श्रीमाताजीकी

बातचीत

भाग ३

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

श्रीमाताजीकी

बातचीत

भाग ३

अदिति कार्यालय
पांडिचेरी-२
१९६८

श्रीनलिनीकांत गुप्तद्वारा The Yoga of Sri Aurobindo में संकलित श्रीमाताजीकी बातचीतके कुछ अंशोंका हिंदी अनुवाद हम पहले दो भागोंमें छाप चुके हैं। बाकी अंश इस तीसरे भागमें प्रकाशित हो रहा है।

विषय-सूची

श्रीमाताजीकी बातचीत, भाग ३

(१)

(२)

श्रीमाताजीकी बातचीत

भाग ३

१

यौगिक चक्र

निःसंदेह, मनुष्य-शरीरमें सात योग-चक्र हैं जो सर्वविदित हैं। वे हैं—नीचेसे आरंभ करनेपर, (१) मेरुदंडका निचला सिरा, (२) पेटके नीचेका हिस्सा, (३) नाभी, (४) हृदय, (५) गला, (६) दोनों भौंहोंका मध्य भाग और (७) मस्तकका ऊपरी भाग। परंतु इनके अतिरिक्त दूसरे चक्र भी हैं जो मेरुदंडके नीचेकी ओर फैले हुए हैं और जो उतने प्रसिद्ध नहीं हैं। परंतु यह ठीक है कि व्यक्तिगत सत्ताके चक्र मेरुदंडतक आकर समाप्त हो जाते हैं; जो चक्र नीचे हैं वे अधिकतर विश्व-प्रकृतिसे संबंध रखते हैं। एक चक्र सिरके ऊपर और उससे परे है; फिर, दूसरी ओर, पैरके नीचे और उससे दूर एक और चक्र है। ये योग-चक्र चेतना और शक्तिके केंद्र हैं; ये चेतना और शक्तिके विभिन्न प्रकारों और गुणोंके मूल-स्रोत हैं—ये चित्-शक्तिके अनेक लोकोंको सूचित करते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो वास्तवमें यह अनुभव करते हैं कि उनकी शक्ति और बल नीचेसे आते हैं, मानो ये पैरोंके नीचेसे फौवारेकी तरह उनके अंदर प्रवाहित होते हों। रीढ़के अंतिम भागके नीचेसे लेकर पैरतकका यह क्षेत्र अवचेतनाका क्षेत्र है तथा और भी नीचेकी ओर जो क्षेत्र फैला हुआ है वह निश्चेतनाका राज्य है। हम स्वयं मेरुदंडके अंतिम छोर (मूलाधार) से भिन्न इस निम्नतर या मेरु-

दंडके नीचेके क्षेत्रमें पांच और चक्रोंको देख सकते हैं—(१) घुटना, (२) पिंडली, (३) पैर, (४) तलवा और (५) पैरसे नीचे। इस तरह सब मिलकार चक्रोंकी संख्या १२ होगी—यही पूर्णता या अखंडताकी सूचक गुह्य संख्या है।

मेरुदंडके मूलमें जो चक्र है, जो व्यक्तिगत चेतनाका आधार है, वह एक सांपके जैसा दिखायी देता है—वह सांप कुंडलित और निद्रित है, संभवतः उसका सिर बहुत ऊंघता हुआ-सा ठीक चिपका हुआ है। यह साधारण मानव-चेतनाको सूचित करता है जो अवरुद्ध, संकीर्ण, अज्ञ और सुषुप्त है; मानव-शक्ति भी इस स्तरमें तमसाच्छन्न और यांत्रिक, अत्यंत सीमित होती है। संपूर्ण संभाव्य शक्ति, चित्-शक्ति भौतिक शरीरकी चेतनामें आवद्ध है। अव, यह सांप चिरकाल सोया ही नहीं रहता। इसे जगना होगा, यह जगता है। तात्पर्य, मनुष्यकी चेतना जगती है, वढ़ती है और ऊपरकी ओर उठती है। यह सांप एक दिन अपना सिर हिलाता है, जरा अधिक ऊपर उठाता है, अपने फनको नचाना आरंभ करता है, मानो अपनी नींदको झाड़ फेंकने और चारों ओर देखनेकी चेष्टा करता हो। यह धीरे-धीरे अपनी गेंडुरको खोलता है और अधिकाधिक ऊपरकी ओर चढ़ता है। यह एकके बाद एक चक्रको पार करता और ऊपर चढ़ता है; अधिकाधिक जागृत होता है, प्रत्येक चक्रमें नयी ज्योति और शक्ति एकत्र करता है। अंतमें, पूर्णरूपेण जाग्रत् होकर, यह अपनी पूरी ऊंचाईके वरावर उठ जाता है, सीधा, एक लाठीकी तरह खड़ा हो जाता है, उसकी पूंछका सिरा रीढ़के मूलमें होता है और उसका फन मनुष्यके मस्तककी खोपड़ीको छूता है। उस समय मनुष्य पूर्ण जाग्रत्, संपूर्ण रूपसे आत्म-सचेतन हो जाता है। परंतु यह क्रिया यहीं आकर समाप्त नहीं हो जाती; क्योंकि सांप और आगे वढ़ता है, वह खोपड़ीके नीचेके भागमें अपने फनसे आघात करता है और अंतमें उसे तोड़कर विजलीकी ज्योतिकी तरह उसके परे चला जाता है। खोपड़ी टूटनेसे किसीको डरनेकी आवश्यकता नहीं, वह

वास्तवमें भौतिक रूपमें भंग होना या खोपड़ीका टूटना नहीं है। यद्यपि यह कहा जाता है कि जहां एक वार तुम अपने सिरसे ऊपर या उसके परे चले गये कि फिर तुम्हारे वापस आनेकी कोई संभावना नहीं, तुम सदाके लिये ही चले जाते हो। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि इस अनुभूतिके बाद शरीर बहुत दिनोंतक संहत नहीं रहता, वह धीरे-धीरे भंग होने लगता और मर जाता है। और फिर भी ऐसा होना कोई आवश्यक नहीं है, यह इस विषयका संपूर्ण सत्य नहीं है। क्योंकि, जब तुम परे चले जाते हो तब तुम अपने साथ अतिचेतन ज्योतिको लेकर वापस भी आ सकते हो। सांप, अब ज्योतिर्मय होकर — शुद्ध और मुक्त शक्ति बनकर — फिरसे शरीरमें घुस सकता है, इस वार उसका सिर नीचे और पूंछ ऊपर होगी। वह जगमगाता हुआ, एकके बाद एक सभी चक्रोंको अपनी अतिचेतन ज्योतिसे प्रकाशित करता हुआ प्रवेश करता है और मनुष्य-को अधिकाधिक समृद्ध चेतना, शक्ति और जीवन प्रदान करता है, उसकी सत्ताको अधिकाधिक रूपांतरित करता है। ज्योति काफी आसानीसे हृदयक्षेत्रतक उतर आती है; उसके बाद कठिनाई आरंभ होती है, नीचेके क्षेत्र क्रमशः अधिक अंधकारपूर्ण और घने होते जाते हैं और जैसे-जैसे ज्योति नीचेकी ओर अग्रसर होती है वैसे-वैसे उसके लिये भीतर घुसना कठिन होता जाता है। यदि वह मेरुदंडके निचले सिरेतक पहुंचनेमें सफल हो जाय तो कहना होगा कि उसने अद्भुत कार्य कर डाला है। परंतु उससे भी और आगे बढ़नेकी आवश्यकता है, यदि मनुष्यको — और उसके साथ-साथ जगत्को भी — पूर्ण रूपसे रूपांतरित अतिचेतन जीवन प्राप्त करना हो। दूसरे शब्दोंमें, ज्योतिको न केवल हमारी सत्ताके भौतिक स्तरको ही, बल्कि अन्य स्तरोंको भी, जो नीचेकी ओर विद्यमान हैं, अवचेतन तथा निश्चेतन हैं, छूना और उनमें प्रविष्ट होना होगा। अबतक वह सब क्षेत्र एक बंद कारागार ही रहा है, ऐसा प्रांत रहा है जहां पहुंचना और अधिकार जमाना असंभव ही रहा है।

और फिर भी यह कोई असंभव कार्य नहीं है। केवल यही नहीं कि यह असंभव नहीं है, बल्कि हमें इसे संभव बनाना होगा। फिर इतना ही नहीं, वरन् मनुष्यकी भवितव्यता यह मांग करती है कि इसे संभव बनाना अनिवार्य होना चाहिये। अगर मनुष्यको रूपांतरित होना हो, अगर उसे यहां नीचे भागवत सत्यके कुछ अंशको मूर्त्तिमान् करना हो, अगर पृथ्वीपर उसका सामाजिक जीवन परमात्म-चेतनाकी ज्योति और सामंजस्यकी अभिव्यक्ति बनना हो तो उसे इन निम्नतर क्षेत्रोंमें उतरना ही होगा, उच्चतम भागकी भांति ही निम्नतम क्षेत्रको भी तोड़ डालना होगा तथा उच्चतम और निम्नतम दोनोंको ही जोड़ देना होगा।

मनुष्य और उसके भाग्यके विषयमें एक विचित्र कहानी प्रचलित है। वह, साधारण मनुष्य भला क्या है? वह एक दास है, एक क्रीतदास है। उसे यह भ्रम हो सकता है कि उसके अपने विचार और अपनी चाल-ढाल है, वे उसकी अपनी निजी ही हैं; फिर उन्हें कार्यान्वित करनेके लिये उसे खुला अवसर भी प्राप्त है। परंतु यह पता लगानेमें बहुत समय नहीं लगेगा कि यह एक भ्रम है, एक महान् धोखा है। उसकी योजनाएं परिपक्व नहीं होतीं, उसके प्रयास एक लोहेकी दीवालपर धक्के लगाते हैं। जितना ही अधिक वह वस्तुओंको ठीक-ठीक देखता और निरीक्षण करता है उतना ही अधिक उसे पता चलता है कि उसके हाथ-पैर बंधे हैं। वह ऐसी शक्तियों और वस्तुओंके द्वारा परिचालित होता है जिनपर उसका कोई भी वश नहीं। वह परिस्थितियोंका दास है; वह दूसरोंकी इच्छाके अधीन है। उसकी अपनी इच्छाको कोई शक्ति या सुयोग प्राप्त नहीं है; वह पूर्णतः प्रभावहीन है। वह अधिकाधिक अनुभव करता है कि एक भारी-सा बोझ उसके सिरके पीछे दबा रहा है और उसे नीचे झुका रहा है, एक भारी-सा भार उसके कंधोंपर लदा हुआ है। वह किसी भांति बोझ ढोनेवाले पशुकी तरह पैर घसीटता हुआ आगे बढ़ रहा है। उसकी अपनी स्वतंत्र रुचि या इच्छा नहीं है; उसकी

चाहों और कामनाओंसे कुछ भी नहीं पूछा जाता। उसे तो लाचारी-के साथ आगे बढ़ना पड़ रहा है।

परंतु यह कहानी यहीं नहीं समाप्त हो जाती। मनुष्य, यदि वह चाहे तो, इस परिस्थितिको बदल सकता है, पासा पलट सकता है। उसके अंदर स्वतंत्रताका मूल स्रोत विद्यमान है—जिसे वह अस्पष्ट रूपमें अपनी बाहरी चेतनामें अनुभव करता है; उसके अंदर एक ऐसा केंद्र है जहांसे वह प्रतिक्रिया करने और पुनः अपने अधि-कारको प्रस्थापित करनेमें समर्थ हो सकता है। यह वही केंद्र है जहां उसका 'धर्म', उसकी सत्ताका विधान विद्यमान है। यह उस-का अंतरात्मा है। यदि वह एक बार उसके साथ संपर्क स्थापित कर ले, उसे अपने जीवनका आधार बना ले तो उसी क्षणसे वह मुक्त हो जाता है। वह अपना माथा सीधा खड़ा कर लेता है। वह अब झुका नहीं रहता। कठोर परिस्थितियोंका बोझ अब उसपर नहीं लदा रहता। वह परिस्थितियोंको पार कर गया होता है, वह उनके ऊपर खड़ा होता है, उनका निरीक्षण करता है। अब वह प्रभु होता है और वे उसकी आज्ञाका पालन करती हैं, अब उसे उनकी आज्ञा नहीं माननी पड़ती।

यह परिणति चरम रूपमें उस समय साधित होती है जब कि घेरेको दोनों ओरसे तोड़ा जाता है जिसकी चर्चा मैं ऊपर कर रही थी। एक तो है ऊपरकी ओर पर्देको भेदना जब कि चेतना अति-चेतनमें उठ जाती है, मानव-सत्ताको भागवत सत्तामें उठा ले जाती है; दूसरा है निम्नतर पर्देको चीर देना और भागवत चेतनाका एकांत जड़-चेतनामें, अवचेतना और निश्चेतनामें उतर आना और पृथ्वी-पर दिव्य जीवनको सिद्ध करना।

आंतर और बाह्य सत्ता

सत्ताका बाहरी भाग भगवान्‌की ओर मुड़ा हुआ है : तुम अपने आदर्शके विषयमें सचेतन हुए हो और यथासंभव अपना आचरण उसके अनुकूल बनाते हो। तुम जैसा होना चाहते हो वैसा ही दिखायी देते हो। परंतु ठीक रेखाके पीछे, तुम्हारी चेतनाके दूसरी ओर– अवचेतनाके अंदर, जैसा कि इसे नाम दिया गया है — दृश्य एकदम भिन्न है। वहांपर ज्योतिने स्पर्श नहीं किया है : वहांपर क्रियाएं दूसरे रास्ते चल रही हैं। वहा ऐसी वस्तुएं — विचार, आवेग, अनुभव आदि — छिपी बैठी हैं जिन्हें तुम रखना पसंद नहीं करोगे। यह बात नहीं कि तुम जान-बूझकर और किसी उद्देश्यसे उन्हें छिपाते हो : बल्कि वे मूल साधारण प्रकृतिके अनिवार्य अंग और अंशके रूपमें वहां अवस्थित हैं। वे चेतनाकी पृष्ठभूमिका निर्माण करती हैं; वहां सब प्रकारके कोने और नाके हैं, — अगर एकदम खुले स्थान न हों, — जिनमें अंधकार और गंदगी भरी हुई हैं। यह द्विविध-रूपता प्राय: साधारण चीज है, सच पूछा जाय तो विश्वजनीन है; पर तुम्हें एक-रूप बनना होगा, अर्थात्, एक ही टुकड़ेका बन जाना होगा, संपूर्ण रूपसे ज्योतिकी ओर मुड़ जाना होगा। तुम्हें इन छिपी हुई चीजोंके बारेमें सचेतन होना होगा और उन्हें बाहर निकालना होगा, शांति, सच्चाई और निर्भयताके साथ उन्हें ज्योतिके सामने खोल रखना होगा जिसमें कि ज्योतिर्मयी शक्ति उनपर क्रिया कर सके। उन्हें बाहर खींच लाना होगा और दूर फेंक देना होगा, अथवा यदि संभव हो तो, उन्हें शुद्ध करना और परिवर्तित करना होगा। उनमेंसे कुछ चीजें परिवर्तित होने योग्य होती हैं और उचित क्रियाएं बन जाती हैं; दूसरी पूर्णत: अनुचित होती हैं, वे निम्नतर चेतनासे संबंध रखती हैं और उन्हें निर्दयताके साथ निकाल फेंकना होगा।

और यह फुर्तीली तर्क-बुद्धि

तर्क-बुद्धि कसरतके खेल दिखानेवाली एक खिलाड़ी है। यह सब प्रकारकी पद्धतिसे हरकत कर सकती है, अनंत रूपोंमें अपनेको मोड़ सकती है, एक समान आसानी और कुशलताके साथ अत्यंत असंभव ढंगसे तोड़-मरोड़ सकती है। यह सत्यको नहीं ढूंढ़ती, यद्यपि ऐसा करनेका यह दिखावा कर सकती है; क्योंकि यह सत्यको नहीं पा सकती। अनिश्चितता या अनिर्दिष्टताका नियम ही आधुनिक विज्ञानका अंतिम शब्द प्रतीत होता है। तर्कबुद्धि जो कुछ करती या कर सकती है वह यह है कि जिस स्थितिमें वह रखी गयी है या जिसका समर्थन करनेके लिये उसे कहा गया है उसीको ठीक सिद्ध करे, उसीके लिये युक्ति-तर्क खोज निकाले। इसका कार्य है "सबूत" देना; यह इस कार्यको उसी तरह कर सकती है जैसे कि मकड़ी अपने ही अंदरसे जाल बुननेके लिये समूचा ताना-बाना बाहर निकालती है। ऐसा कोई सत्य नहीं, अर्थात्, ऐसा कोई सिद्धांत नहीं जिसे यह सिद्ध न कर सके और फिर एक समान अकाट्य रूपमें सिद्ध न कर सके। निश्चय ही महान् कांट (Kant) का यह एक महान् आविष्कार था जिन्होंने इस बातका वर्णन बुद्धिका विरोध कहकर किया था। बुद्धिको झाड़ीमें छिपे हुए तथ्य या सत्यको देखनेकी कोई परवा न कर उसे पीटते रहना (Pirouette ad infinitum) ही अनंतगुना आनंदप्रद प्रतीत होता है।

तब क्या इस कथनका मतलब यह है कि यह वृत्ति एक मिथ्या वस्तु है और यह तुम्हें केवल मिथ्यात्वके अंदर ही ले जा सकती है? यह बात आवश्यक नहीं। यह उस समय मिथ्या वस्तु बन जाती है जब तुम इसीके अनुसार, जिस किसी विचार या विचारोंको यह पसंद करती है उनके अनुसार जीवन-यापन करनेकी कोशिश करते हो; क्योंकि उस समय यह तुम्हें परस्पर-विरोधी वस्तुओंके बीच पहुंचा देनेके लिये बाध्य होती है। अन्यथा, यदि व्यावहारिक उपयोगका

कोई प्रश्न न हो, यदि महज मानसिक जगत्‌के एक खेल या खिलवाड़की बात हो तो यह एक निर्दोष बाजीगर है; और यहांतक कि तुम्हारे मस्तिष्कको तीक्ष्ण, जागरूक, सबल और नमनीय बनानेमें यह स्वयं अपने ढंगसे भी कुछ उपयोगी हो सकती है।

तर्कबुद्धि एक बुरी मालकिन है; स्वतंत्र योद्धाके रूपमें कार्य करनेपर यह बहुधा उन्मत्तकी भांति संहार करती है। परंतु उच्चतर ज्योति जब उसे अपने वशमें करके जुएमें जोतती है, उसे लगाम लगाकर परिचालित करती है तब यह एक सहायक, यहांतक कि एक आवश्यक चीज बन जाती है; क्योंकि भौतिक जगत्‌में उच्चतर चेतनाकी सत्य-क्रियाओंको धारण करने और सुप्रतिष्ठित करनेके लिये यह एक तात्कालिक आकार प्रदान करती है।

शरीर-चेतनाकी शक्ति

चेतनाकी एक ऐसी स्थिति है जिसमें तुम यह देखते हो कि वस्तुओं, परिस्थितियों, विभिन्न व्यापारों तथा जीवनकी सभी कार्यावलियोंका तुम्हारे ऊपर पड़नेवाला प्रभाव प्रायः ऐकांतिक रूपसे इस बातपर निर्भर करता है कि तुम्हारा मनोभाव उनके प्रति क्या है। उस स्थितिमें तुम सचेतन हो जाते हो, इस हदतक तुम सचेतन हो जाते हो कि तुम अनुभव करने लगते हो कि वस्तुएं अपने-आपमें न तो अच्छी हैं न बुरी, तुम्हारे संबंधसे ही बस वे वैसी हो जाती हैं; हम जिस ढंगसे उनकी ओर ताकते हैं बस उसीपर संपूर्ण रूपसे उनका प्रभाव निर्भर करता है। अगर, उदाहरणार्थ, हम किसी परिस्थितिको भगवान्‌का एक दान, भगवान्‌की एक कृपा, समष्टिगत सामंजस्यका एक परिणाम मान लें तो वह हमें अधिक सचेतन, अधिक सच्चा और अधिक शक्तिशाली बननेमें सहायता करेगी। इसके विपरीत, ठीक वैसी ही परिस्थिति, यदि हम उसे अन्य रूपमें लें, विधनाका एक प्रहार, हमें हानि पहुंचानेवाली एक बुरी शक्ति मान

बैठें तो, हमारी चेतनाके ऊपर विषाद बनकर बैठ जाती है, यह हमारी शक्तिका हरण कर लेती है, अंधकार ले आती है, असामंजस्य उत्पन्न करती है। परंतु दोनों ही प्रसंगोंमें परिस्थिति एकदम एक-जैसी ही होती है। मैं चाहती हूं कि तुम्हें ऐसा अनुभव हो और तुम ऐसा प्रयोग करो। क्योंकि तुम्हारा आदर्श है आत्मप्रभुत्व प्राप्त करना। परंतु केवल उतना ही नहीं। तुम्हें केवल अपने आत्माका प्रभु ही नहीं होना चाहिये, बल्कि अपने जीवनकी परिस्थितियोंका भी प्रभु होना चाहिये, कम-से-कम उन परिस्थितियोंका जो अभी-अभी तुम्हें घेरे हुई हैं और तुमसे संबंधित हैं। तुम्हें फिर यह भी ध्यान-में रखना चाहिये कि यह एक ऐसा अनुभव है जो केवल मनके अंदर ही आवद्ध नहीं है: यह आवश्यक नहीं कि यह केवल तुम्हारे मस्तिष्क-में ही हो, बल्कि यह तुम्हारे शरीरमें भी हो सकता है और इसे अवश्य ही होते रहना चाहिये। निःसंदेह, यह एक ऐसा अनुभव है जिसके लिये महान् प्रयास, अत्यधिक एकाग्रता और आत्मप्रभुत्वकी आवश्यकता होती है: तुम्हें चेतनाको ज़बर्दस्ती शरीरके अंदर, घने जड़तत्त्वके अंदर खींच लाना होगा। वास्तवमें शरीरका भाव ही अंतमें प्रत्येक बातका निर्णय करेगा: बाहरी जगत्के संस्पर्शों और आघातोंको शरीर जिस रूपमें ग्रहण करेगा उसीके अनुसार उनका स्वभाव भी बदल जायगा। और यदि तुम इस दिशामें पूर्णता प्राप्त कर लो तो तुम दुर्घटनाओंके भी प्रभु बन सकते हो। यह चीज संभव है, और केवल संभव ही नहीं वरन् इसका होना सु-निश्चित है, क्योंकि मनकी प्रगतिका यह एक आगेका पग है। सबसे पहले तुम्हें अपने मनमें उस शक्तिको इस हदतक आयत्त करना होगा कि वह परिस्थितियोंपर क्रिया कर सके और तुम्हारे ऊपर होनेवाले उनके प्रभावको बदल सके। फिर वह शक्ति जड़-तत्त्वमें, स्थूल भौतिक पदार्थमें, तुम्हारे शरीरके कोषोंमें अवतरित हो सकती है और तुम्हारे बाहर और तुम्हारे चारों ओरकी वस्तुओंपर अधिकार जमाने-की इस क्षमतासे शरीरको भी अलंकृत कर सकती है।

संसारमें कुछ भी असंभव नहीं है। हम लोग स्वयं ही सीमा बांध देते हैं; बराबर ही हम कहते हैं, यह संभव है, वह असंभव है, हम इसे कर सकते हैं, हम उसे नहीं कर सकते। कभी-कभी हम स्वीकार करते हैं कि अमुक चीज संभव है पर फिर पूछते हैं कि कौन इसे करेगा, अतएव यह असंभव है आदि-आदि। दासोंकी भांति, कैदियोंकी तरह हम अपने-आपको अपनी सीमाओंसे बांध देते हैं। तुम इसे साधारण समझदारी कहते हो, पर यह एक मूर्खतापूर्ण, संकीर्ण, अज्ञानयुक्त समझदारी है; यह वास्तवमें जीवनके नियमोंको नहीं जानती। जीवनके नियमोंको हम जैसा समझते हैं, उनके विषय-में हमारा मन या बुद्धि जैसी कल्पना करती है, ठीक वैसे ही वे नहीं हैं; वे बिलकुल दूसरे ही ढंगके हैं।

शरीर और चैत्य पुरुष

तुम पूछते हो कि शरीरकी ग्रहण करनेकी क्षमता सीमित क्यों है। वह सीमित इसलिये है कि भौतिक जगत्में वस्तुएं एक साथ मिल-जुल न जायं, वे अपने आकार और स्थितिमें कुछ हदतक अचल-अटल बनी रहें। उदाहरणार्थ, अगर तुम्हारा शरीर एकाएक पिघलना और दूसरे शरीरकी ओर बहना आरंभ कर दे तो यह वरन् दुःखदायी ही होगा; अगर तुम्हारे पड़ोसीका शरीर, तरल पदार्थकी तरह, तुम्हारे अपने तरल शरीरमें बहने लगे तो इससे तुम्हें घबड़ाहट ही पैदा होगी। ऐसी मिलावटको रोकनेके लिये ही पिंडोंके रूपमें बहुत अधिक जमावटकी आवश्यकता हुई, उस शक्तिकी एक प्रकारकी अचलताकी आवश्यकता हुई जो इन्हें अलग करती है। निःसंदेह एक व्यक्तिको दूसरे व्यक्तिसे अलग करनेके लिये इस अचलताकी आवश्यक ता हुई। और फिर निश्चित रूपसे यह अचलता ही वह चीज है जो शरीरको यथासाध्य और यथायोग्य प्रगति करनेसे रोकती है। जैसे-जैसे तुम बड़े होते हो और अपने समुचित आकार और गठनको प्राप्त होते

हो वैसे-वैसे तुम अपने शरीरमें अधिकाधिक अनमनीय भी होते जाते हो। जब तुम एक बच्चे होते हो तब तुममें बढ़नेकी नमनीयता होती है। बच्चे लगातार बदलते रहते हैं; उनका बदलना स्पष्ट दिखायी देता है। यह नमनीयता, यह वृद्धि और विकास तबतक चलते रहते हैं जबतक तुम युवक बने रहते हो। पर उसके बाद, जैसे, ४० वर्षकी उम्रमें, लोग साधारणतया अनुभव करने लगते हैं कि वे अपने लक्ष्यतक पहुंच गये हैं, वे अपने परिश्रमके फल इकट्ठा करनेके लिये बैठ जाते हैं; वे धीरे-धीरे मिट्टीकी तरह, सूखे काठ-की तरह कठिन और यहांतक कि अंतमें पत्थरकी तरह कठोर बन जाते हैं। उसके बाद शरीर आंतरिक परिवर्तनकी क्रियाके साथ अपना मेल नहीं बैठा पाता, जमकर पत्थर हो जाता है और भंग होने लगता है, जिसका अर्थ होता है मृत्यु।

तब मृत्युके बाद क्या कोई प्रगति नहीं होती?

यह कई बातोंपर निर्भर करता है। कभी-कभी एक प्रकारकी प्रगति होती है। उदाहरणार्थ, कुछ ऐसे लेखक, संगीतज्ञ, कलाकार या अन्य लोग होते हैं जिन्होंने एक ऊंचे मानसिक स्तरपर जीवन बिताया होता है, जो अनुभव करते हैं कि हमें अभी भी पृथ्वीपर कुछ काम करना है, हमने अपना काम पूरा नहीं किया है, अपने जीवनका मुख्य कार्य संपन्न नहीं किया है, अपने सामने रखे हुए लक्ष्य-को प्राप्त नहीं किया है। अतएव, वे जहांतक संभव हो, पार्थिव वातावरणमें बने रहना चाहते हैं, अपनी सत्ताकी जितनी संहति बनाये रखनेकी आवश्यकता होती है उतनी बनाये रखनेकी इच्छा करते हैं तथा अन्य जीवित मानव-आकारोंके द्वारा अपनेको अभिव्यक्त करने और अपनी प्रगति करनेकी चेष्टा करते हैं। मैंने ऐसे कई उदाहरण देखे हैं।

मैं तुम्हें एक संगीतज्ञकी बड़ी मजेदार कहानी सुनाऊंगी; वह एक पियानो बजानेवाला, बहुत उच्च कोटिका पियानो बजानेवाला था; उसके हाथ मानो कोई अद्‌भुत वस्तु बन गये हों, कौशल, यथार्थ

कार्यान्विति, नियमानुवर्तिता, शक्ति और क्षिप्रतासे भरे हुए हों; सचमुचमें उसकी कला अद्‌भुत थी। वह अपेक्षाकृत कम उम्रमें ही मर गया और मरते समय उसके मनमें यह भाव था कि यदि मैं जीवित रहता तो संगीतद्वारा आत्माभिव्यक्ति करनेमें मैं और भी प्रगति करता। उसकी अभीप्साकी तीव्रता ऐसी थी कि उसके सूक्ष्म हाथोंने अपना आकार बनाये रखा, वे मृत्युके कारण विलीन नहीं हुए और जहां कहीं कोई व्यक्ति निष्क्रिय और ग्रहणशील होता और साथ ही अच्छा संगीतज्ञ भी होता, वहीं इस मृत व्यक्तिके हाथ बाजा बजानेवाले जीवित हाथोंमें घुस जाते। जिस व्यक्तिमें मैंने यह घटना देखी थी वह साधारणतया काफी अच्छा बजा लिया करता था, पर बजाता था एकदम मामूली ढंगसे ही; परंतु जैसे ही उसने बजाना आरंभ किया वैसे ही वह एकदम हठात् केवल एक दक्ष ही नहीं वरन् विलक्षण कलाकार बन गया; वास्तवमें उस दूसरे व्यक्तिके हाथ उसके हाथोंका व्यवहार कर रहे थे।

ठीक यही बात एक चित्रकारके विषयमें भी घटित हो सकती है; उसके प्रसंगमें भी हाथ ही साधन होंगे। कुछ लेखकोंके प्रसंगमें भी ऐसी ही बात घटित हो सकती है; परंतु ऐसे उदाहरणमें मृत व्यक्तिका मस्तिष्क अपना एक आकार बनाये रखता है और वही जीवित लेखकके मस्तिष्कमें प्रवेश करता है, अवश्य ही जीवित लेखक इतना अधिक ग्रहणशील होना चाहिये कि उस आकारको एकदम ठीक-ठीक रूपमें अपने अंदर घुसने दे। मैंने एक लेखकको देखा है जो अपनी स्वाभाविक क्षमताओंमें बिलकुल ही असाधारण नहीं था, पर वह सामान्यतया जो कुछ करता था या करनेमें समर्थ था उससे बहुत अधिक सुन्दर चीजें उन मुहूर्त्तोंमें लिख लिया करता था।

मैं एक संगीत-रचयिताकी बात भी जानती हूं जो उस आदमीकी तरह स्वयं बजानेवाला तो नहीं था जिसका जिक्र मैंने ऊपर किया है, परंतु था बहुत ही विचित्र। रचयिताके प्रसंगमें, लेखककी भांति ही, मस्तिष्क ही वह साधन होता है जो उसकी सहायता करता है;

परंतु वादकके लिये हाथ ही प्रमुख करण होता है। बीथोवेन (Beethoven), बाक, (Bach), सेजार फ्रेंक (Cesar Frank) महान् संगीत-रचयिता थे, यद्यपि इनमें अंतिम व्यक्ति एक वादक भी थे। संगीतकी रचना करना मस्तिष्कका कार्य है। अब, एक महान् संगीतज्ञका मस्तिष्क एक रचयिताके मस्तिष्कके साथ संपर्क स्थापित कर लेता था और उससे अपूर्व संगीतकी रचना करा लेता था। वह व्यक्ति संगीतमें गीतिनाट्य (opera) की रचना कर रहा था। तुम्हें अवश्य स्मरण होगा कि गीतिनाट्यका संगीत कितनी जटिल वस्तु है। यह विभिन्न वस्तुओंका एक मिला-जुला समुदाय होता है जिसमें प्रदर्शकोंकी एक बहुत बड़ी संख्याको काम बांट दिये जाते हैं और जिसमें सभी व्यक्ति अपने अलग-अलग यंत्रोंको पृथक् रूपसे बजाते हैं और उनमेंसे सबको एक साथ और पृथक्-पृथक् उसी विचार और विषयको अभिव्यक्त करना पड़ता है जो रचयिताके मनमें होता है। अब, जिस व्यक्तिकी बात मैं कह रही हूं, वह जब सादा कागज सामने रखकर बैठ जाता था तब वह अपने मस्तिष्कमें संगीतके रूपोंको ग्रहण करने लगता था और लगातार लिखता जाता था मानो वह अपने सामने रखी हुई किसी तैयार चीजको लिपिबद्ध करता हो। मैंने उसे ऊपरसे नीचेतक पूरे एक पृष्ठको ऐक्यतानवाद्य (orchestra) के उपयुक्त समस्त ब्योरोंसे भरते हुए देखा था। उसे कोई यंत्र सुननेकी आवश्यकता नहीं थी, वह उसे पूरा-का-पूरा कागजपर ही लिख गया; और संगीतका विभाजन एकदम निर्दोष था। वह स्वयं भी इस विषयमें बहुत अचेतन नहीं था, वह अनुभव किया करता था कि कोई चीज उसके अंदर घुसती है और उसे संगीतका निर्माण करनेमें सहायता देती है।

तुम्हें यहां यह याद रखना चाहिये कि जब मैं किसी आकारके किसी जीवित मनुष्यमें घुसनेकी बात कहती हूं तब उस आकारका अर्थ स्वयं वह मनुष्य नहीं है जो मर गया है, अर्थात्, उसका अंतरात्मा या चैत्य पुरुष नहीं है। मेरा कहना है कि वह केवल एक

विशेष वृत्ति है जो पार्थिव वातावरणमें उस आदमीके मरनेके बाद भी बनी रहती है जिसकी वह वृत्ति होती है: यह इतने अच्छे रूपमें विकसित होती है, इतने सुचारु रूपमें गठित होती है कि यह अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाये रखती है। उस मनुष्यका अंतरात्मा, सच्चा आंतर पुरुष वहां अब नहीं होता, मैं कई बार तुम लोगोंको बतला चुकी हूं कि मृत्युके बाद वह यथासंभव शीघ्र चैत्य जगत्‌में, अपने निजी लोकमें, विश्राम करने, आत्मसात् करने और तैयारी करनेके लिये चला जाता है। यह बात नहीं कि इससे भिन्न कोई बात घट ही नहीं सकती। एक महान् संगीतज्ञके रूपमें जो अंतरात्मा अवतरित हो चुका है, वह फिरसे एक महान् संगीतज्ञके अंदर या उसके रूपमें अवतरित हो सकता है, यद्यपि एक दूसरे प्रसंगमें मैं कह चुकी हूं कि साधारणतया अंतरात्मा परिवर्तन करना, यहांतक कि अपने अवतरणों-में परस्पर विपरीतता और विरोधिता उत्पन्न करना भी पसंद करता है।

उदाहरणके लिये महान् वेहला-वादक ईजाई (Isaie) को ले लो; वह बेलजियमके रहनेवाले थे और अपने युगके अत्यंत अद्-भुत वेहला-वादक थे। मैं उन्हें जानती थी और मुझे पूरा विश्वास है कि वह उस अंतरात्माके एक अवतार या कम-से-कम अंशविभूति थे जो अंतरात्मा महान् बीथोवेनके रूपमें अभिव्यक्त हुआ था। हो सकता है कि वह संपूर्ण अंतरात्मा इस प्रकार अवतरित न हुआ हो, पर अपनी संगीत-विषयक क्षमतामें वही अंतरात्मा था। उस आदमी-का चेहरा वैसा ही था, मस्तिष्क वैसा ही था। जब मैंने पहले-पहल उसे रंगमंचपर उतरते हुए देखा तब मैं बहुत चकित हो गयी, मैंने अपने मनमें कहा, यह बीथोवेनसे इतना अधिक मिलता-जुलता है, यह तो उसी महान् प्रतिभाकी एकदम प्रतिमूर्त्ति है। और तब वह खड़ा हुआ, धनुषके आकारमें, उसने बस एक बार हाथ चलाया और उसमें केवल तीन या चार स्वर फूट पड़े, पर तीनों या चारों अद्भुत स्वर थे, शक्तिशालिता, महानता और गरिमासे भरपूर; समूचा भवन एक अद्भुत और अपूर्व वातावरणसे ओतप्रोत हो गया।

मैं खूब अच्छी तरह समझ गयी कि उसके पीछे बीथोवेनकी संगीत-प्रतिभा विद्यमान है। इस प्रसंगमें भी यह संभव हो सकता है कि बीथोवेनका अंतरात्मा अपने संपूर्ण रूपमें — उनका समूचा चैत्य पुरुष — वहां मौजूद न हो; केंद्रीय चैत्य सत्ता कहीं अन्यत्र हो और अधिक तुच्छ सर्वसामान्य अनुभवोंको, जैसे, एक मोचीके जीवनके अनुभवोंको एकत्र कर रही हो। परंतु जो कुछ छोड़ दिया गया था और अभिव्यक्त हो रहा था वह भी उस महान् संगीतज्ञका अत्यंत विशिष्ट गुण था। उन्होंने अपनी मानसिक और प्राणिक सत्ताको, यहांतक कि अपनी भौतिक सत्ताको भी अपनी संगीत-क्षमताकी दृष्टिसे सुशिक्षित और अनुशासित किया था और यह रचना सुदृढ़ बनी रही और उसने अवतरित होनेकी चेष्टा की। यह संगीतप्रेमी सत्ता मूलतः चैत्य-चेतनाके इर्दगिर्द सुसंगठित और निर्मित हुई थी और इस कारण उसने अपनी विचित्र शक्ति आयत्त की थी, तथा बने रहनेकी शक्ति, प्रायः एक प्रकारकी अमरता प्राप्त कर ली थी। ऐसी रचनाओंमें, यद्यपि वे स्वयं चैत्य सत्ता नहीं होतीं, एक प्रकारका चैत्य-पुरुषोचित गुण होता है, वे स्वतंत्र सत्ताएं होती हैं, अपने निजी जीवनपर अधिकार रखती हैं और जब उनके सामने सुअवसर उपस्थित होता है तभी वे अभिव्यक्त और अवतरित होकर अपने-आपको चरितार्थ करनेका प्रयास करती हैं।

क्या कोई चैत्य पुरुष एक ही समय दो शरीर धारण कर सकता है?

यह विषय इतना सरल नहीं है। मैं बहुत बार तुम लोगोंसे कह चुकी हूं कि चैत्य पुरुष एक क्रमविकासका परिणाम है, कहनेका तात्पर्य, यह भागवत चेतनाकी अभिव्यक्ति है जो चेतना कि जड़-पदार्थके अंदर प्रविष्ट हुई और फैली हुई है तथा जो धीरे-धीरे जड़-तत्त्वको उन्नत और विकसित करती है जिसमें कि वह भगवान्‌में

वापस आ सके। भागवत केंद्र बहुतसे जीवनों या जन्मोंके द्वारा चैत्य पुरुषको निर्मित करता है। फिर एक ऐसा समय आता है जब यह एक प्रकारकीं पूर्णताको, अपनी वृद्धि और गठनकी पूर्णताको प्राप्त होता है। उसके वाद इसमें बहुधा भगवान्‌को और भी अधिक अच्छे रूपमें या और भी अधिक मात्रामें अभिव्यक्त करनेके हेतु और भी महत्तर अनुभूति, और भी आगे प्रगति करनेकी अभीप्सा होती है। इस खिंचावके, प्रवृत्तिके फलस्वरूप यह साधारणतया एक उच्चतर लोकसे, अधिमानस लोकसे, जैसा कि श्रीअरविंदने उसे नाम दिया है, अधिक उच्च कोटिकी एक सत्ताको, निवर्तन-क्रियाके द्वारा उत्पन्न एक सत्ताको अपनी ओर आकर्षित करता है जो चैत्य पुरुषके अंदर अवतरित होती है। इन अधिमानसिक सत्ताओंको मनुष्य देवता या देव-शक्तियोंके नामसे पुकारते हैं। अव, जव कि यह मिश्रण, चैत्य पुरुषके अंदर एक देवताका एकत्व घटित होता है, तव स्वभावतः ही चैत्य पुरुष अपने आकार-प्रकारमें बढ़ जाता है और देवताकी प्रकृतिको प्राप्त कर लेता है तथा अंशविभूति उत्पन्न करनेकी क्षमता भी आयत्त कर लेता है; तात्पर्य यह कि यह अपने अंदरसे एक अंश-को निकाल फेंकता है जो अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है और दूसरों-के अंदर अवतरित हो सकता है। इस तरह एक ही मूल सत्ताकी केवल दो ही नहीं बल्कि बहुतेरी अंश-विभूतियां या प्रक्षिप्त मर्तियां हो सकती हैं। दूसरे शब्दोंमें, एक ही चैत्य-भागवत मूल हो सकता है पर उससे बहुतसे व्यक्ति-स्वरूप उत्पन्न हो सकते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी ऐसा होता है कि विभिन्न लोग आपसमें एक प्रकार-का साम्य और यहांतक कि एकत्वका अनुभव करते हैं और वह अकारण नहीं होता, क्योंकि वे अपने अंदर एक ही देवत्वको वहन कहते हैं जिससे वे अर्थात् उनके चैत्य पुरुष उत्पन्न हुए थे। यह चीज ठीक एक ही व्यक्तित्वका दो रूप लेना नहीं है, द्विविध रूप लेनेकी अवस्थामें तो जव कोई अपने अंदरसे अपनेको बाहर फेंकता है तब वह अपने एक अंशको खो बैठता है, जैसे कि तुम जब किसी

चीजको दो भागोंमें काट देते हो तो फिर केवल दो अर्द्धांश ही रह जाते हैं। यहां प्रक्षिप्त अंश अपने-आपमें एक पूरा और स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है। अगर तुम अपने अंदरसे कोई सत्ता उत्पन्न करते हो तो तुम स्वयं संपूर्ण और अखंडित बने रहते हो, अपनी किसी चीजको खोते नहीं हो तथा वह अंशविभूति भी एक सर्वांगपूर्ण और अविभक्त सत्ता होती है जो अपना स्वाधीन जीवन यापन करती है।

– २ –

चैत्य पुरुषका क्या कार्य है? उसका स्वाभाविक कर्म क्या है?

चैत्य पुरुष बिजलीकी मशीन (generator) और बिजलीकी वत्तीके वीचके तारकी जैसी एक चीज है। यह बिजली पैदा करनेकी मशीन क्या है और यह बत्ती क्या है? या यों कहें कि यह मशीन कौन है और यह वत्ती कौन है? भगवान् तो हैं मशीन और यह शरीर, दृश्यमान सत्ता है बत्ती। अतएव चैत्य पुरुषका कार्य है इन दोनोंको जोड़ देना। दूसरे शब्दोंमें, यदि जड़तत्त्वके अंदर चैत्य पुरुष न होता जो जड़तत्त्वका भगवान्‌के साथ सीधा संबंध न स्थापित हो सकता। सभी मनुष्य, स्वयं तुम्हें भी लिये हुए सब लोग, अपने अंदर भगवान्‌को वहन करते हैं, तुम्हें उन्हें पानेके लिये केवल अपने अंदर प्रवेश करनेकी जरूरत है। यह मानव-प्राणीकी, बल्कि यों कहें कि पृथ्वीपर निवास करनेवाली सभी सशरीरी सत्ताओंकी एक अपूर्व विशेषता है। परंतु मनुष्यके अंदर आकर चैत्य पुरुष अधिक सचेतन और आकारसंपन्न हो जाता है; अधिक सचेतन और इसलिये अधिक स्वतंत्र भी हो जाता है, यह व्यक्ति-स्वरूपताको प्राप्त हो जाता है। तुम्हें याद रखना चाहिये कि यह एकमात्र इस पृथ्वीकी ही एक विशेषता है। यह शुद्ध और पुनरुद्धार करनेवाली एक शक्तिका अत्यंत अंधकारपूर्ण और निश्चेतन जड़तत्त्वके अंदर सीधे आकर

घुल-मिल जाना है और इसका उद्देश्य है जड़तत्त्वको धीरे-धीरे भागवत चेतनाकी ओर, भागवत उपस्थितिके प्रति, स्वयं भगवान्के प्रति जागृत करना। यह चैत्य सत्ताकी उपस्थिति ही वह चीज है जो मनुष्यको एक विलक्षण प्राणी वना देती है। संभवतः वार-वार उससे यह कहना अच्छा नहीं, क्योंकि, वह तो यों ही फूला नहीं समाता और अपने विषयमें वहुत ऊंची धारणाएं रखता है और इस विषयमें उसे उत्साहित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। फिर भी यह एक सत्य है: इतना अधिक सत्य है कि दूसरे लोकोंकी सत्ताएं, उन लोकोंकी सत्ताएं जिन्हें लोग अर्द्ध-देवताओं या यहांतक कि देवताओंके लोक समझते हैं, श्रीअरविंद जिसे अधिमानस लोक कहते हैं, उस लोककी सत्ताएं पृथ्वीपर भौतिक शरीर धारण करनेके लिये उत्सुक रहती हैं जिसनें कि वे भी चैत्य पुरुपका अनुभव पा सकें, क्योंकि उनमें चैत्य पुरुष नहीं होता। इन उच्चतर सत्ताओंमें वहुतेरे गुण ऐसे हैं जो मनुष्योंमें नहीं हैं, पर इनके अंदर इस दिव्य उपस्थितिका अभाव है जो मात्र पृथ्वीसे ही संवंध रखनेवाली एकदम एक विचित्र वस्तु है। उच्चतर लोकोंके — उच्चतर मन, अधिमानस और अन्य स्तरोंके — सभी निवासी चैत्य पुरुषसे शून्य हैं। स्वभावतः ही प्राणलोककी सत्ताओंमें भी यह चीज नहीं है। परंतु इन प्राणमय सत्ताओंको इस वातका कोई खेद नहीं, क्योंकि वे इसे नहीं रखना चाहतीं। अवश्य ही कुछ थोड़ी-सी विशिष्ट सत्ताएं इस स्तरपर ऐसी होती हैं जो परिर्वातत होना चाहती हैं और इसलिये वे ही भौतिक शरीर ग्रहण करना चाहती हैं। परंतु वाकी सत्ताएं नहीं चाहतीं, वे अपनी सत्ताके विधानद्वारा वंधी होती हैं और उसका त्याग नहीं कर सकतीं।

अतएव मैं कहती हूं और हम इसे स्वीकार करनेके लिये वाध्य हैं कि अपने अंदर चैत्य सत्ताको धारण करना मनुष्यका एक असाधारण गुण है। परंतु सच पूछा जाय तो यह इससे अधिक लाभ उठाता हुआ नहीं प्रतीत होता। यह जिस ढंगसे इस उपस्थितिके

साथ व्यवहार करता है उससे यह नहीं मालूम होता कि यह अपने इस गुणको बहुत वांछनीय समझता है। यह इसकी अपेक्षा अपने मानसिक आदर्शोंको पसंद करता है, यह इसकी अपेक्षा अपनी प्राणगत मांगोंको अच्छा समझता है और यह इसकी अपेक्षा कहीं अधिक अपने शारीरिक अभ्यासोंको महत्त्व देता है। मैं नहीं जानती कि तुम लोगोंमेंसे कितने लोगोंने बाइबिल पढ़ी है। परंतु उसमें एक कहानी है जिसे मैं बराबर ही पसंद किया करती थी। दो भाई थे, एसो और जैकोब। एसो शिकारके लिये बाहर गया हुआ था और बहुत थका हुआ और भूखा था। वह घर वापस आया और उसने देखा कि उसका भाई थाली लगा रहा है। उसने जैकोबसे कहा कि मुझे खाना खिलाओ: जैकोबने कहा कि मैं तुम्हें खिलाऊंगा पर तुम्हें उसके बदले अपना जन्मगत अधिकार मुझे बेच देना होगा। एसोने कहा, भला इस समय मेरा जन्मगत अधिकार मेरे किस कामका है, और उसने उसे अपने भाईके हाथ बेच दिया। क्या तुम इसका मतलब समझते हो? निःसंदेह, तुम बिलकुल बाहरी रूपमें इसका अर्थ लगा सकते हो। परंतु मैंने इसका दूसरा ही अर्थ लिया। जन्मगत अधिकार है भगवान्का पुत्र होनेका अधिकार। और एसो अपने इस दिव्य अधिकारको एक प्याले शोरबेके बदले दे देनेको एकदम तैयार था। यह एक पुरानी कहानी है, पर यह चिरकालके लिये सत्य है।

चैत्य पुरुष — कुछ रहस्यपूर्ण बातें

क्या चैत्य पुरुष सर्वदा उन्नति करता है?

चैत्य पुरुषमें दो प्रकारकी उन्नतियां होती हैं और वे एक-दूसरीसे बहुत भिन्न हैं। एकका संबंध है उसके अपने आकार लेने, अपनी रचना करने और अपने-आपको संगठित करनेसे; क्योंकि चैत्य पुरुष

आरंभमें केवल एक छोटा-सा दिव्य स्फुलिंग होता है जो आंतर व्यक्तित्वके अंदर छिपा होता है और इसी स्फुलिंगके भीतरसे एक स्वतंत्र सचेतन पुरुष निकलता है और क्रमशः विकसित होता है और उसका अपना निजी संकल्प और निजी क्रिया होती है। जैसा कि मैं कहा करती हूं, चैत्य पुरुष मूलतः भागवत चेतनासे उद्भूत एक चिनगारी होता है: यह एकके बाद एक आनेवाले जन्मोंके अनुभवोंके द्वारा एक सचेतन व्यक्तित्वका रूप ले लेता है। इस तरह यह उन्नति वृद्धिशील बच्चेकी उन्नतिकी जैसी होती है। यह निर्मित होती हुई एक चीज है और अधिकांश मनुष्योंमें दीर्घकालतक ऐसी ही बनी रहती है। यह उनमें पूर्ण रूपसे व्यक्तिभावापन्न नहीं होती, पूर्ण सचेतन तथा अपनी स्वामिनी नहीं होती; इसे अपना निर्माण करने तथा संपूर्ण रूपमें सचेतन होनेके लिये, एकके बाद एक, बहुतसे जन्मोंकी आवश्यकता होती है। परंतु अंतमें एक समय ऐसा आता ही है जब यह एक परिपूर्ण आकार ले लेती है, पूर्णतः व्यक्तिभावापन्न हो जाती है, अपने तथा अपनी भवितव्यताके विषयमें संपूर्णतः सज्ञान हो जाती है। जब कोई ऐसा चैत्य पुरुष किसी मनुष्यमें अवतरित होता है तब उससे एक महान् अंतर आ जाता है। क्योंकि तब वह मनुष्य जन्मसे ही मुक्त होता है, तात्पर्य, वह अपनी परिस्थितियोंसे, अपने इर्द-गिर्दकी चीजोंसे, या अपने जन्मसे अथवा आनुवंशिकतासे, साधारण आदमियोंकी तरह, बंधा नहीं होता। जब वह धरतीपर आता है तब उसे ऐसा बोध होता है कि उसे संसारमें कोई काम करना है, उसे कोई भगवत्प्रदत्त कार्य संपन्न करना है। अतएव उस हदतक उसकी प्रगतिका चक्र पूरा हो चुका है, अर्थात्, अब उसे और आगे प्रगति करनेके लिये शरीरमें जन्म लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उस अवस्थातक जन्म लेना आवश्यक होता है, बल्कि अनिवार्य होता है; क्योंकि पुनर्जन्मके द्वारा ही — नया शरीर ग्रहण करके ही वह प्रगति करता, विकसित होता और वर्द्धित होता है। भौतिक जीवन और भौतिक शरीरमें ही अंतरात्मा धीरे-धीरे अपना

तबतक निर्माण करता रहता है जबतक वह पूर्ण सचेतन पुरुष नहीं बन जाता। परंतु एक बार जब वह अपना पूर्ण निर्माण कर लेता है तब वह अपनी इच्छाके अनुसार जन्म लेने या न लेनेके लिये स्वतंत्र हो जाता है। इस तरह यहां आकर एक प्रकारकी प्रगति बंद हो जाती है। परंतु पूर्णस्वरूपताको प्राप्त इस पुरुषको अब यदि यह इच्छा हो कि वह भगवान्‌के कार्यके लिये एक यंत्र बने, यदि वह अपने निजी लोकके चैत्य आनंदमें जाकर विश्राम करनेके बदले भगवान्‌के विश्वगत उद्देश्यकी परिपूर्त्तिमें सहायता देनेके लिये इस धराधामपर एक कार्यकर्त्ता बनना पसंद करे, तो फिर उसे एक नये प्रकारकी प्रगति करनी होगी, एक ऐसी प्रगति करनी होगी जिससे भगवान्‌के संकल्पको अभिव्यक्त और मूर्तिमान् करनेके लिये वह कार्य करने, कार्यकी व्यवस्था करने और उसका यथायथ संपादन करनेकी योग्यता प्राप्त कर सके। उस हालतमें जबतक संसार चलता रहेगा, जबतक वह भगवान्‌के लिये कार्य करना पसंद करेगा तबतक वह प्रगति करता रहेगा। परंतु वह यदि चैत्य जगत्‌में वापस जाना चाहे और भागवत योजनाकी पूर्त्तिके लिये कार्य करना छोड़ दे या अस्वीकार कर दे तो वह प्रगतिके क्षेत्रके परे एक स्थाणु अवस्थामें पड़ा रह सकता है। कारण, जैसा कि मैं कह ही चुकी हूं, प्रगति भौतिक जगत्‌के अंदर केवल पृथ्वीपर ही होती है। तुम सर्वत्र प्रगति नहीं कर सकते। चैत्य जगत्‌में एक प्रकारकी आनंदपूर्ण विश्रांति है। पर तुम जो कुछ होते हो और जहां होते हो बस वही और वहीं बिना हिले-डुले बने रहते हो।

इस पृथ्वीपर प्रत्येक चीज प्रगति करती है, उसे प्रगति करनी पड़ती है। सभी मनुष्योंको, बिना अपवादके, उन्हें भी जिन्हें चैत्य पुरुषका कोई बोध प्राप्त नहीं है, चाहे वे चाहें या न चाहें, उन्नति करनी ही होगी। उनके बावजूद भी उनके अंदर चैत्य पुरुष उन्नति करता है और उन्हें उसकी वृद्धि और विकासकी वक्र रेखाका अनुसरण करना पड़ता है। कहनेका तात्पर्य, मनुष्य अपने जीवनके

विभिन्न स्तरोंमें आरोहण करता और बढ़ता है, ठीक उसी तरह बढ़ता है जैसे कि एक बच्चा बढ़ता है। बढ़नेकी क्रियाके अंदर एक ऐसा समय आता है जब कि मनुष्य शिखरपर पहुंच जाता और अपनी प्रगति-की दिशा या स्तरको बदल देता है। आरंभमें विशुद्ध रूपमें शारीरिक प्रगति होती है, ठीक बच्चेकी प्रगतिकी जैसी; फिर उसके बाद आती है मानसिक प्रगति, उसके बाद चैत्य प्रगति और आध्यात्मिक प्रगति, क्योंकि, जब एक विशेष स्तरपर प्रगति अपनी सीमाको प्राप्त कर लेती है तब यदि वह अपनी दिशा न बदले तो मनुष्य उसकी टेढ़ी धारासे नीचे गिर जाता है, अर्थात् आगे बढ़नेकी जगह वह पीछे हटने लगता है जिसका अर्थ होता है अंतमें विघटन और विनाश। ठीक इसी कारण कि विशुद्ध भौतिक जगत्में नित्य और निरंतर प्रगति नहीं हो सकती, इस स्तरमें वृद्धिकी यह धारा, यह चरम विंदु, यह ह्रास और विनाश विद्यमान है। उन सभी चीजोंको जो आगे नहीं बढ़तीं, पीछे हटना ही होता है। ठीक यही बात जड़-तत्त्वके राज्यमें घटित होती है। जड़-तत्त्वको यह पता नहीं कि किस तरह अनिश्चित कालतक प्रगति की जाती है, इसने इसे नहीं सीखा है; अतएव कुछ समयके बाद यह उन्नति करते-करते या बढ़ते-बढ़ते थक जाता है। इसकी धातु ही ऐसी है कि कोई मनुष्य एक सीमाके परे नहीं जा सकता। परंतु मनुष्यमें उसकी शारीरिक वृद्धिके साथ-साथ उसकी प्राणिक वृद्धि और मानसिक वृद्धि भी होती है। विशेषकर शरीरके प्रगति करना बंद कर देनेके बाद भी मन बहुत दिनोंतक प्रगति कर सकता है। शरीर जब बढ़ता नहीं, यहांतक कि जब वह ह्रासको प्राप्त होने लगता है तब भी मन बढ़ते रहना, उच्चतर ऊंचाइयोंपर चढ़ते रहना जारी रख सकता है। शरीरके अधोगमनके साथ-साथ ठीक दूसरी ओर मानसिक आरोहण होता है। परंतु जो लोग योग करते हैं, जो अपने चैत्य पुरुषके विषयमें सचेतन हो जाते हैं और उसके साथ एकत्व प्राप्त कर लेते हैं, जो उसके जीवनके साथ जीवन यापन करते हैं, वे कभी प्रगति करना बंद नहीं करते, वे अपने जीवन-

की अंतिम सांसतक ऊपरकी ओर बढ़ते रहते हैं; यहांतक कि जब वे मर जाते हैं तब भी उनकी प्रगति बंद नहीं होती। शरीर ह्रासको प्राप्त होता है, क्योंकि यह आंतर सत्ताकी अग्रगतिके साथ-साथ पग नहीं बढ़ा सकता, यह आंतरिक चेतनाके ताल-स्वरके अनुरूप न तो अपनेको रूपांतरित कर सकता है और न गढ़ सकता है। इन दोनों-के बीच यह अनैक्य इतना अधिक बढ़ जाता है कि अंतमें सहसा एक दरार पड़ जाती है और वही है मृत्यु। जो हो, विशुद्ध आध्यात्मिक स्तरपर भी प्रगति नहीं होती। विशुद्ध आत्माके राज्यका अर्थ है एक स्थितिशील अवस्था; वहां कोई प्रगतिशील क्रिया नहीं है, क्योंकि वह प्रगतिके क्षेत्रसे परे है, समस्त अभिव्यक्तिके परे है। जब तुम आत्मामें लीन हो जाते हो तब तुम सृष्टिसे बाहर निकल आते हो और तब प्रगतिका, अथवा यहांतक कि किसी गति-विधिका ही, कोई प्रश्न नहीं रह जाता।

जब चैत्य पुरुष पुनर्जन्म लेने जाता है तब क्या वह अपने आकारके विषयमें पहलेसे ही चुनाव कर लेता है?

यह कई बातोंपर निर्भर करता है। जैसा कि मैं अभी तुम्हें बतला चुकी हूं, कुछ चैत्य पुरुष ऐसे होते हैं जो ठीक आकार ग्रहण करने और बढ़नेकी अवस्थामें होते हैं, वे साधारणतया आरंभमें ही चुनाव नहीं कर सकते। वे बहुत अधिक चुनाव नहीं कर सकते। परंतु जब वे विकास और चेतनाकी एक विशेष स्थितिमें आ जाते हैं तब वे चुनाव करते हैं, साधारणतया जब वे अभी शरीरमें ही होते हैं, जब वे कुछ हदतक अनुभव एकत्र कर चुकते हैं, तब वे निर्णय करते हैं कि उनका दूसरा अनुभव-क्षेत्र क्या होना चाहिये। मैं तुम्हें एक उदाहरण दूंगी, यद्यपि वह बहुत कुछ बाह्य होगा। मान लो कि एक चैत्य पुरुषको शक्ति, अधिकार, प्रभुत्वका अनुभव लेनेकी आव-श्यकता हुई और उसने यह जानना चाहा कि इन क्रियाओंकी क्या

प्रतिक्रियाएं होती हैं और फिर किस तरह इन्हें भगवान्‌की ओर मोड़ा जा सकता है, थोड़े शब्दोंमें, उसने यह सीखना चाहा कि ये चीजें क्या सिखा सकती हैं। अतएव उस अंतरात्माने एक राजा (या एक रानी) का शरीर ग्रहण किया। जब उसे आवश्यक अनुभूति प्राप्त हो गयी, जो कुछ उसे सीखना था उसे वह सीख चुका, तब उसने शरीर छोड़ दिया, जो शरीर कि अब उपयोगी नहीं था। अब ठीक उसी मुहूर्त्तमें जब कि अंतरात्मा शरीर छोड़नेका निश्चय करता है पर अभी भी रहता शरीरमें ही है, तभी वह आगेके अनुभवके विषयमें चुनाव कर लेता है। यह चुनाव बहुधा क्रिया और प्रतिक्रियाकी धाराका अनुसरण करता है। अगर जीवने एक विशेष क्षेत्रका अनुभव प्राप्त किया है और उसका अध्ययन कर लिया है तो उसका चुनाव उसके बाद उससे विपरीत क्षेत्रके लिये होता है। इस तरह यदि जीवने राज-पदका अनुभव प्राप्त कर लिया है और उसके द्वारा भगवान्‌के साथ सचेतन संबंध स्थापित करनेके लिये प्रयास कर लिया है तब जिस शरीरने शक्ति, अधिकार और प्रभुताके साथ उसकी सेवा की उसे छोड़ते समय शायद वह कहेगा, "इस बार मैं न ऊंची न नीची, बल्कि मध्य अवस्थाको ग्रहण करूंगा जहां अधिकांशमें बाह्य जीवन यापन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होगी, जहां मनुष्य न तो अत्यंत विलासितामें रहता है और न अत्यंत गरीबीमें।" उसी संकल्पके साथ वह आवश्यक विश्राम लेनेके लिये, विगत अनुभवोंको हजम करने और भविष्यकी तैयारी करनेके लिये चैत्य जगत्‌में वापस आता है। जब पृथ्वीपर लौटनेका, स्थूल शरीरमें अवतरण करनेका समय आता है, तब स्वभावतः ही उसे अपना किया हुआ चुनाव स्मरण होता है, परंतु उस उच्चतर और सूक्ष्मतर जगत्‌से उस क्षण यह स्थल जगत् उसी रूपमें नहीं दिखायी देता जिस रूपमें हम इसे देखते हैं; यह एक दूसरे ही रूपमें दिखायी देता है; पर फिर भी इर्दगिर्दकी चीजों और विभिन्न क्रियाओंका अंतर स्पष्ट देखा जा सकता है। भले ही वहां किसी जीवको पूरे व्योरेको देखनेकी शक्ति न प्राप्त हो पर

वहां एक प्रकारकी सर्वांगीण या गोलाकार दर्शन-शक्ति प्राप्त होती है। जीव एक वातावरणको चुन सकता है, वह एक विशिष्ट देशको भी चुन सकता है। उसकी दृष्टिके सामने एक विशेष प्रकारकी शिक्षा, सभ्यता और प्रभाव होता है, एक प्रकारका जीवन होता है जिसे वह अपनाना चाहता है। फिर जैसे ही वह नीचे आता है और चारों ओर देखता है, वैसे ही वह बहुत स्पष्ट रूपमें नाना प्रकारके प्रकंपनों-को पहचानने लगता है और उसीके अनुरूप अपना रास्ता निश्चित करता है। ऐसा मालूम होता है मानो वह जिस स्थानपर आना चाहता है उसपर वह पहलेसे ही निशाना बांध लेता है। परंतु वह अपने निशानेको केवल अनुमानसे ही मार सकता है। क्योंकि इसके अतिरिक्त एक या दो और बातें हैं जो क्रिया करती हैं। क्योंकि, ऊपरसे होनेवाला उसका केवल अपना चुनाव ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि नीचेकी ओर एक प्रकारकी ग्रहणशीलता भी अवश्य होनी चाहिये, एक अभीप्सा होनी चाहिये जो एक विशिष्ट सत्ताको या सत्ता-के एक विशिष्ट प्रकारको अपनी ओर खींच लाये। सामान्यतया पुकार मांकी ओरसे उठती है, कभी-कभी माता-पिता दोनोंसे उठती है। यदि माता-पितामें कोई अभीप्सा या ग्रहणशीलता हो, कोई ऐसी चीज हो जो पर्याप्त रूपमें निष्क्रिय और उन्मुक्त हो तथा किसी उच्च-तर वस्तुकी ओर ताकती हो तो उस हालतमें वह चीज चैत्य पुरुषको उसे पुकारनेवाले एक ज्योतिर्मय प्रकंपनके रूपमें दिखायी देती है। यह उसके संकल्पका उत्तर होती है। यह उस स्थानको दिखाती है जहां उसे जाना होता है। फिर चैत्य पुरुष अपने जन्मकी तिथि नहीं निश्चित कर सकता। स्वभावतः ही वह एक अनिश्चयताका काल होता है, पर उस कालके एक वर्षसे अधिक लंबा होनेकी आशा नहीं की जाती। दूसरी बात जो चैत्य पुरुषके चुनावको थोड़ा-बहुत परि-वर्तित या सीमित करती है, वह स्वयं जन्मके स्वरूपसे आती है। अंतरात्मा, सचेतन पुरुष निश्चेतनाके अंदर जा गिरता है, क्योंकि यह भौतिक जगत् यहांतक कि अपने उत्तमसे उत्तम रूपमें मानव-चेतना

भी, चैत्य चेतनाके मुकावले एक निश्चेतन वस्तु ही है। यह मानो अंतरात्माका निम्नतम स्तरमें सिरके बल गिरना है। इसके कारण वह मूर्च्छित-सा हो जाता है और दीर्घकालतक यह नहीं समझता कि कौनसी चीज क्या है। वह यह नहीं जानता कि वह कहां है, वह क्या कर रहा है या वह क्यों वहां है; एक प्रकारकी पूर्ण शून्यता उसे अधिकृत कर लेती है। वह अपने-आपको व्यक्त करनेमें असमर्थ होता है, विशेषकर जब वह एक बच्चा होता है, उस समय उसके पास कोई चीज समझने या व्यक्त करनेके लिये यथोचित परिमाणमें मस्तिष्कशक्ति नहीं होती। बहुत विरले बच्चे ही उस विशिष्ट सत्ताको प्रदर्शित करते हैं जो कि उनके अंदर निहित होती है। कुछ प्रसंगोंमें निश्चय ही ऐसी बातें घटित होती हैं पर वे प्रसंग बहुत कम होते हैं और ऐसे दो प्रसंगोंके बीच दीर्घकालका अंतर होता है। साधारणतया अंतरात्माको अपनी निजी चेतना प्राप्त करनेमें काफी समय लगता है। वह जगता तो है पर अपनी बेहोशीसे धीरे-धीरे ही जगता है, वह केवल क्रमशः ही यह समझना आरंभ करता है कि वह किसी कारणसे यहां है और अपनी इच्छासे ही है। इस विस्मृतिका कारण होता है मनका तथा मानसिक शिक्षाका होना जो दोनों ही चैत्य चेतनाको पूर्ण रूपसे ढक देते हैं। अब भीतरके इन दरवाजोंको भंग करनेके लिये, यह स्मृति ले आनेके लिये कि मनुष्य कहीं अन्य स्थानसे आता है और एक अत्यंत विशेष कारणसे आता है, सब प्रकारकी — बाहरी और भावमय — परिस्थितियों, घटनाओं और अनुभवोंकी आवश्यकता होती है। यह सामान्यतः लंबी क्रिया होती है। परंतु किसी-किसीको बहुत शीघ्र किसी ऐसे व्यक्तिसे मिलनेका सुअवसर प्राप्त हो सकता है जो कि ज्ञानी है। तब अज्ञान और अंधकारके अंदर अंधे या अनाड़ीकी तरह टटोलते रहनेके बदले तुम ज्योति और सहायता पा जाते हो और वे चीजें तुम्हें तेजीसे और सीधे रूपमें चैत्य चेतनाके साथ तुम्हारा संपर्क स्थापित कर देती हैं।

चैत्य संकल्प और चैत्य विकास ऐसी चीजें हैं जो मनुष्यकी साधा-

रण धारणाओंके क्षेत्रसे एकदम बाहर होती हैं। न्याय, पुरस्कार और दंडकी भावनाका यहां कोई स्थान नहीं। बहुतसे लोग मेरे पास आते हैं और शिकायत करते हैं: "मैंने अपने पूर्वजन्ममें ऐसा कौनसा पाप किया है जिसके कारण मुझे इस समय इतनी कठिन अवस्थामें रहना पड़ रहा है, इतना अधिक दुःख भोगना पड़ रहा है!" मैं सदा ही उत्तर देती हूं: "परंतु तुम क्या यह नहीं देखते कि यह तुम्हारे लिये एक आशीर्वाद है, तुम्हारे ऊपर भगवान्‌की कृपा ही है? तुमने अपने पूर्वजन्ममें शायद स्वयं ही ऐसी अवस्थाकी मांग की थी जिसमें कि तुम उनके द्वारा और अधिक प्रगति कर सको!" इस ढंगसे वस्तुओंकी ओर देखना अत्यंत नया मालूम हो सकता है। पर सत्य इसी ढंगसे देखनेमें है।

भला जो चैत्य पुरुष एक बार बुद्धिमत्ता और सृजन-क्षमताका जीवन यापन कर चुका है उसके लिये फिरसे मूर्खतापूर्ण तथा सामान्यजनोचित जीवनमें प्रवेश करना कैसे संभव होता है?

ठीक इसी तरहकी बात मैंने नहीं कही है। चैत्य पुरुष मूर्ख नहीं होता। जो बात होती है उसका वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं: जैसे, मान लो कि किसी चैत्य पुरुषको लेखकके जीवनका अनुभव प्राप्त हुआ है। लेखकका कार्य है अपने-आपको, अपने अनुभव, पर्यवेक्षण और निर्णयको शब्दोंमें व्यक्त करना: उसका एक विशिष्ट क्षेत्र, संबंधित वस्तुओं और परिस्थितियोंका एक खास दायरा होता है जिसमें वह रहता और चलता-फिरता है। परंतु उसके परे और उसके बाहर और भी क्षेत्र और दायरे हैं जिन्हें उसका कोई अनुभव नहीं होता। अतएव वह अपने-आपसे कह सकता है: मैंने अपने मस्तिष्कका जीवन यापन किया है, मैं कुछ-कुछ जानता हूं कि जीवनके प्रति बुद्धिकी प्रतिक्रियाएं कैसी होती हैं: अब मैं अपने हृदयका जीवन यापन करूंगा और हृद्‌गत भावों और आवेगोंकी प्रतिक्रिया-

ओंका अनुभव करूंगा। निश्चय ही, कभी-कभी बुद्धिकी अतिरिक्त क्रिया हृदयकी क्षमताओंको सुखा देती है। इसलिये इस नवीन प्रकारके अनुभवको ग्रहण करनेके लिये चैत्य पुरुष अपनी बौद्धिक उच्च-ताका मानो त्याग कर देता है, और प्राणमय स्तरपर उतर आता है। अब वह सृजन करनेवाला कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति नहीं रह जाता, बल्कि एक साधारण मनुष्य बन जाता है, परंतु उसके पास ऐसा हृदय होता है जो अपनी तीव्र और उदार क्रियाओंसे समृद्ध होता है या बराबर अपनेको समृद्ध बनाता रहता है। (यहां इस प्रसंगपर हम शंकराचार्यकी कहानीको स्मरण कर सकते हैं जिन्हें बचपनसे ही संन्यासी होनेके कारण प्रेमका कोई अनुभव नहीं मिला था। उन्होंने इस अनु-भवको प्राप्त करनेके लिये एक राजाके शरीरमें प्रवेश किया।) ऐसी घटनाएं खूब कम नहीं होतीं जिनमें हम यह देखते हैं कि जो चैत्य पुरुष कुछ दिशाओंमें अपना अधिकसे अधिक विकास कर चुके हैं वे ही किन्हीं अन्य नयी दिशाओंमें या किसी भिन्न उद्देश्यकी सिद्धिके लिये बहुत ही परिमित और सामान्य जीवन ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ, कोई चैत्य पुरुष जो राजा था, जैसा कि एक बार मैं बता चुकी हूं, जिसे शक्ति, अधिकार और आधिपत्यका, राजन्योचित उत्कर्षोंका अनु-भव मिल चुका है, अब उच्च पदके आडंबरोंके कष्टोंसे मुक्त एक अप्रसिद्ध मनुष्यकी तरह काम करनेके लिये साधारण जीवनमें अव-तरित होना पसंद कर सकता है; वह, मानो एक प्रकारका अज्ञात जीवन प्राप्त करनेके लिये निरी मध्यश्रेणीय परिस्थितियोंको, सामान्य मनुष्यों और चीजोंके बीच बिलकुल सामान्य अवस्थाओंको चुन सकता है जिसमें कि वह शांति और निर्विघ्नताके साथ कार्य कर सके। क्या तुम कह सकते हो कि यह अवनति और पतन है? यह तो महज एक दूसरे ही दृष्टिकोणसे, दूसरे ही दृष्टिबिंदुसे जीवनका मुकाबला करना हैं, उसकी समस्याओंका सामना करना है। तुम्हें जानना चाहिये कि चेतनाके लिये, सच्ची चेतनाके लिये — चैत्य पुरुषकी चेतनाके लिये — प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि एक ही चीज हैं, सफलता

और निष्फलता एक ही चीज हैं। महत्त्वपूर्ण बात है चेतनाका उत्थान। जो अवस्थाएं तुम्हारी मानवीय आंखोंको अनुकूल प्रतीत होती हैं वे ही वास्तवमें चेतनाके उत्थानके लिये एकदम प्रतिकूल हो सकती हैं। तुम अपने साधारण विचारों और अपनी सामान्य प्रतिक्रियाओंकी सहायतासे सफलता और विफलताके अनुसार प्रत्येक चीजका विचार करते हो। परंतु वास्तवमें विचार करनेका वह तो बहुत हीन तरीका है, क्योंकि वह तरीका अत्यंत अस्वाभाविक, अत्यंत वाह्य तथा पूर्ण रूपसे सत्यके विरुद्ध है। मानवजीवनमें, जिस रूपमें कि वह वर्तमान समयमें गठित हुआ है, संभवतः लाखों-करोड़ों प्रसंगोंमेंसे केवल एक प्रसंगमें ही अथवा उससे भी कम प्रसंगोंमें सत्यको प्रथम स्थान दिया जाता है; बराबर ही उसमें दिखावेका तत्त्व मिला-जुला होता है। जब कोई आदमी सफल होता है, बहुत अधिक सफल होता है तब निश्चित जानो कि उसके साथ उतना ही दिखावेका अंश भी मिला हुआ है।

पूर्वजीवन और चैत्य पुरुष

अधिकांश मनुष्य इस विषयमें जरा भी सचेतन नहीं हैं कि उनमें क्या हो रहा है। उनकी चेतना या सत्ता मानसिक, प्राणिक और शारीरिक तत्त्वोंका एक मिश्रण होती है, एक प्रकारकी खिचड़ी ही होती है। कुछ थोड़ेसे, अत्यंत थोड़ेसे लोग ही ऐसे होते हैं जो सचेतन होते हैं—इन तीनोंके परे जो कुछ है उसके विषयमें अर्थात् अपने चैत्य पुरुषके विषयमें सचेतन होते हैं। क्योंकि केवल वही तत्त्व क्रमशः आनेवाले विभिन्न जीवनोंमें स्थायी रहता है, सर्वदा बना रहता है। कुछ लोगोंको इस विषयका कुछ अंश मालूम होता है या उन्होंने उसे किसीसे सुना होता है—वे पुनर्जन्ममें विश्वास करते हैं, परंतु वे बिलकुल बच्चोंकी तरह इसकी कल्पना करते हैं। इस विषयमें उनकी धारणा यह है कि मनुष्य मानो एक वस्त्रकी तरह ही अपना

शरीर बदल देता है। ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने पुस्तकें लिखी हैं और उन पुस्तकोंमें अपनी वंदरकी योनिसे लेकर अवतक उन्होंने जितने जीवन बिताये हैं, उन सबका गंभीरताके साथ वर्णन किया है ! जैसा कि मैंने बताया है, केवल चैत्य-तत्त्व ही मृत्युके वाद वना रहता है, बाकी सब चीजें विलीन हो जाती हैं। और हजारमेंसे ९९९ आदमियोंमें चैत्य सत्ता एक बहुत छोटी रचना होती है जो पीछे पड़ी रहती है और मनुष्यके वास्तविक जीवनमें बहुत मामूली-सा भाग लेती है। मैं यहां सामान्य आदमीकी बात कह रही हूं, योगीकी नहीं, अर्थात् उस व्यक्तिकी बात नहीं कह रही हूं जिसमें चैत्य पुरुष इस हदतक विकसित हो चुका है कि वह बाहरी जीवनको अपने वशमें कर सके और उसे परिचालित कर सके। भला कितनी बार एक साधारण व्यक्तिको अपने चैत्य पुरुषका संस्पर्श प्राप्त होता है ! बहुतोंके या अधिकांश लोगोंके इस क्रियाका ठीक ऊपरी आस्वादन प्राप्त करनेमें भी वर्षपर वर्ष निकल जाते हैं। बस, यही क्षण बना रहता है और उसीको मनुष्य दूसरे जीवनतक वहन कर ले जाता है, अन्य सभी चीजें सिर्फ मिट जाती हैं। हमारे जीवनके एक विशेष कालमें एक विशेष परिस्थिति उत्पन्न होती है, भीतरसे एक पुकार उठती है, एक अनिवार्य आंतरिक आवश्यकता महसूस होती है जो चैत्य पुरुषको सामने खींच लाती है और संभवतः एक क्षणके लिये संपर्क स्थापित हो जाता है। वह अनुभूति चैत्य-स्मृतिमें सुरक्षित रह जाती है। परंतु बाहरी परिस्थितियों और भौतिक घटनाओंसे भी कहीं अधिक जो चीज चेतनामें संजोयी जाती है वह होती है वह तीव्र भावावेग, वह प्रकंपन जो उस समय उस अनुभूतिके साथ लगा हुआ था। अधिक-से-अधिक, एक कहा हुआ शब्द, एक सुना हुआ वाक्यांश, बस एक गुजरता हुआ दृश्य ही वह समस्त संपदा होता है, जो, शुद्ध और सच्चे रूपमें, संचित होती है, मानो चेतनामें खुद जाती है। परंतु विशेष रूपसे अंतरात्माकी अवस्था ही अत्यंत आवश्यक होती है। जहां-तहां छितरी पड़ी ये ही चीजें अंतरात्माकी आगेकी यात्रामें पैर रखनेके पत्थर या मार्ग-

चिह्नका काम करती हैं। ये ही मनुष्यके व्यक्तित्वका निर्माण करने-वाली स्थायी वस्तुएं होती हैं। विरले प्रसंगोंमें ही इससे अधिक विशाल क्षेत्र विद्यमान होता है, ऐसी परिस्थितियां सुरक्षित होती हैं जो काफी सुनिश्चित रूपमें तारीख और ऐतिहासिक व्यक्तिको सूचित कर सकें। जो हो, साधारणतया कोई यह नहीं कह सकता कि "मैं अमुक व्यक्ति था, मैं अमुक देशमें रहता था या मैंने अमुक कार्य किये।" चैत्य सत्तासे आनेवाली ये चमकें ही, जो कुछ लोगोंमें अधिक और दूसरोंमें कम आती हैं, केवल विश्वसनीय होती हैं और किसी व्यक्तिके जीवनोंकी कहानीका सच्चा अभिलेख होती हैं।

सच पूछा जाय तो जो व्यक्ति अपने चैत्य पुरुषके साथ पूर्ण रूप-से एकाकार हो गया है, जिसने अपने संपूर्ण व्यक्तित्वको, उसके समस्त अंगोंको, इस केंद्रके चारों ओर, सच्चे अर्थमें एक टुकड़ेसे बने हुए एक व्यक्तिके रूपमें सुसंगठित किया है, और जो संपूर्ण रूपमें तथा एकमात्र भगवान्‌की ही ओर मुड़ा हुआ है, वही केवल अपने समग्र व्यक्तिगत इतिहासके रूपमें किसी चीजको याद रख सकता है या अपनी चेतनामें धारण कर सकता है। क्योंकि, उसका शरीरपात होनेपर उसके अन्य सब अंग अंतरात्म-सत्त्वके अंदर एकीभूत और गृहीत होनेके कारण अपनी व्यक्तिगत सत्ताको बनाये रखते हैं; चैत्य पुरुषके इर्दगिर्द जो व्यक्तित्व निर्मित होता है वह अपनी अखंड स्मृतिके साथ अपनी सत्ता-को बनाये रखता है: यहांतक कि वह एक जीवनसे दूसरे जीवनमें अपनी चेतना खोये बिना जा सकता है।

चैत्य स्मृतिकी एक अत्यंत स्पष्ट विशेषता होती है; उसमें एक अद्‌भुत तीव्रता होती है। वह जीवनके अविस्मरणीय क्षणोंको संचित रखती है, उन क्षणोंको जब कि चेतना अत्यंत ज्योतिर्मयी, अत्यंत शक्तिशाली, अत्यंत सक्रिय थी। वे जीवनके सबसे अधिक सुखपूर्ण और सबसे अधिक सौभाग्यपूर्ण क्षण होते हैं। परंतु उनकी चर्चा नहीं की जा सकती।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो यह कहते हैं और शायद वे ऐसा

विश्वास भी करते हैं कि वे अमुक-अमुक व्यक्ति थे और वे अपने पूर्व जन्मोंका ब्योरेवार वर्णन भी करते हैं। फिर प्रेतवादियोंकी बैठकमें किसी माध्यमके द्वारा आनेवाली प्रेतात्माओंकी प्रसिद्ध बातचीत भी है। कोई आता है और तुमसे कहता है कि वह नेपोलियन था, दूसरा कहता है शेक्सपियर था इत्यादि-इत्यादि। इस तरह न मालूम कितने शेक्सपियर और नेपोलियन और सीजर प्रकट हुए हैं, इसकी कोई गिनती नहीं! कुछ प्रेतात्मा अत्यंत वाचाल होते हैं और असाधारण कहानियां सुनाकर तुम्हें मोहित कर देते हैं, उनमेंसे बहुतसी कहानियां ऊपरसे देखनेमें कितनी सच्ची और विश्वासयोग्य मालूम पड़ती हैं, निस्संदेह, उनमेंसे दूसरी बहुतेरी अत्यंत मोटी, स्व-विरोधी बातोंसे भरी होती हैं। परंतु असली बात यह है कि अधिकतर ये प्रेतात्माएं प्राणजगत्‌की छोटी-छोटी सत्ताएं होती हैं, बहुधा किसी मृत व्यक्तिके बचे-खुचे अंश होती हैं, उसके विगलित व्यक्तित्वके टूटे-फूटे टुकड़े, कामना-वासनाएं होती हैं जो अपना अस्तित्व बनाये रखती हैं, उसकी घनीभूत कल्पनाएं होती हैं जो स्वतंत्र छोड़ दी गयी होती हैं और जो इधर-उधर घूमती तथा किसी जीवित व्यक्तिको अधिकृत करने और उसपर जमकर बैठ जानेकी चेष्टा करती हैं। प्राणजगत्‌की छोटी-छोटी आत्माएं बहुधा अच्छे स्वभावकी नहीं होतीं; वे सहज ही धोखेमें आ जानेवाले मनुष्योंके मत्थे अपना मनबहलाव करती हैं, उन्हें उल्लू बनाती हैं। उस लोकमें दूसरोंके मनकी बात जान लेना आसान है: प्रेतात्मा साफ-साफ देखती है कि तुम्हारे माथेमें क्या है, यद्यपि तुम उसे बोलकर नहीं बतलाते। यही कारण है कि वह उन सब गुप्त बातोंको बतला देती है जिन्हें केवल तुम्हीं जानते हो, यहांतक कि उन गुप्त बातोंको भी प्रकट कर देती है जिन्हें तुम एकदम भूल गये हो। वे अन्य व्यक्तियोंकी नकल भी कर सकती हैं। वे और भी बहुतसी छोटी-मोटी युक्तियां जानती हैं जिनसे वे तुम्हें विमूढ़ या विस्मित कर सकती हैं।

सुसंगत सत्ता

जब किसी वस्तुके सभी भाग एकरूप होते हैं, स्वयं उस वस्तुके जैसे होते हैं, तब उस वस्तुको एकरूप या सुसंगत सत्ता कहा जाता है; दूसरे शब्दोंमें, जब समूची सत्ता एक ही प्रभावके अधीन होती है, एक ही चेतनासे चालित होती है, उसके एक ही प्रवेग, एक ही संकल्प होता है तब उसे सुसंगत कहते हैं। साधारणतया मनुष्य अनेक तरहके टुकड़ोंसे बना होता है जो सब भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं, उनमेंसे प्रत्येक टुकड़ा बारी-बारीसे विभिन्न समयोंपर सक्रिय होता है। एक अंग सक्रिय हो सकता है, पर वह अपने पहलेके अंगसे इतना भिन्न हो सकता है कि वह मनुष्य बिलकुल ही एक नया आदमी प्रतीत हो सकता है। हमारे अंदरके प्रत्येक अंगका अपना निजी स्वभाव और निजी क्रिया है, वह अपनी ही चरितार्थताकी मांग करता है, प्रायः एक स्वतंत्र व्यक्तित्वकी तरह कार्य करता है। सचमुचमें हम लोग बहुसंख्यक व्यक्तित्वोंसे गठित हुए हैं।

उदाहरणार्थ, तुम इस समय चेतनाकी एक बहुत अच्छी स्थितिमें हो। तुम्हें ऐसा लगता है कि तुम वास्तवमें एक आदर्शके लिये, भगवान्‌के लिये जीवन यापन करते हो और तुम प्रसन्न हो। अकस्मात् कुछ हो जाता है; तुम किसी आदमीसे मिलते हो जो तुम्हें बहुत पसंद नहीं है, अथवा तुम कोई काम करते हो जो तुम्हारे उपयुक्त नहीं है, किंवा तुम कुछ प्रतिकूल परिस्थितियोंके बीच पड़ जाते हो और तुम देखते हो कि तुमने अपना अनुभव खो दिया है, इतना अधिक खो दिया है कि संभवतः उसकी स्मृति भी तुम खो दोगे। तुम आश्चर्य करते हो कि भला ऐसी बात कैसे हो गयी। तुम्हारी सत्ताका एक नीचे डूबा हुआ अंश ऊपर आ गया है, एक ऐसा अंग सामने आ गया है जो छिपा पड़ा था: वह दूसरे अंगोंको आवृत करके या पीछेकी ओर ठेलकर सामने आ गया है।

ऐसे द्विविध, त्रिविध, चतुर्विध या बहुविध व्यक्तित्वके बहुतसे

उदाहरण मौजूद हैं। ये पृथग्भूत व्यक्तित्व एक-दूसरेके विषयमें सचेतन नहीं होते, प्रत्येक व्यक्तित्व स्वतंत्र रूपसे काम करता है और अपने रास्तेसे ही चलता है। वे एक साथ रहते हैं, पर एक-दूसरेके साथ न तो मिलते हैं न एकाकार होते हैं; वे एक ही शरीरमें रहते हैं, बस इतना ही उनमें संबंध होता है। वह शरीर मानो उस बोरेके समान होता है जिसमें पत्थर और मोती — यदि वास्तवमें वे सच्चे मोती हों — एक साथ भर दिये गये हैं और उनके एकत्वका एक ही बंधन है वह बोरा। इसे एकरूपता नहीं कहते; इसे तो विषम-रूपता या बहुरूपता कहते हैं।

मैं एक व्यक्तिको जानती थी जिसमें संकल्प-शक्ति थी, चिंतन और भावनाओंकी स्पष्टता थी, जो किसी विशेष कार्यसे संबंधित सभी आवश्यक चीजोंको समझदारीके साथ संपन्न करता था। एकाएक उसकी समूची सत्तामें एक प्रकारकी उलट-पुलट हो गयी। एक दूसरा ही व्यक्ति प्रकट हो गया जिसने अपने पूर्ववर्त्ती व्यक्तिके कामोंको सिर्फ बंद ही नहीं कर दिया, बल्कि उस सबको मलियामेट कर दिया। उसने १० मिनटमें उस सबको नष्ट कर दिया जिसे बनानेमें दूसरेको महीनों लगे थे। और तुम उस पहले आदमीके कष्टका अंदाजा कर सकते हो जब कि वह फिर वापस आया और उसने उस संहारको देखा : उसे फिर नये सिरेसे आरंभ करना पड़ा।

तब मनुष्यको करना क्या चाहिये? इसका उपाय क्या है?

तुम्हें अपने अंदर चेतनाका एक केंद्र, अंदरकी ओर गहराईमें दृढ़तापूर्वक स्थापित एक पथ-निर्देशक स्तंभ खोज निकालना होगा जो साथ ही एक आईनेका भी काम दे। सभी वस्तुएं, सभी घटनाएं उस दर्पणके सामनेसे अवश्य गुजरनी चाहियें; वे वहां अपने सच्चे रूपमें, ठीक जैसी वे हैं वैसी ही, अपने सत्य-स्वरूपमें प्रतिफलित होंगी, उस रूपमें नहीं जैसी कि वे ऊपरसे दिखायी देती हैं या जैसी होनेका वे बहाना करती हैं। और फिर उनके स्वभाव और गुणके अनुसार तुम्हें चारों ओर उन्हें स्थान देना होगा; निर्देशक स्तंभ तुम्हें दिखा

देगा कि प्रत्येक चीजको अपना स्थान पानेके लिये कहां जाना चाहिये। दर्पण ऊपर आनेवाले प्रत्येक भाव, प्रत्येक आवेग, प्रत्येक इंद्रियानुभव-की जांच करेगा और निर्णय देगा। यदि वह स्वीकार करने योग्य हो, यदि वह ज्योतिपूर्ण हो, यदि वह वैसा ही हो जैसा कि उसे होना चाहिये था तो उसे केंद्रके आसपास एक जगह दे दो। यदि, उसके विपरीत, वह धूसर, अंधकारपूर्ण, संदिग्ध हो तो उसे अलग, अत्यंत दूर रख दो। यदि, संयोगवश, कोई नापसंद चीज जबर्दस्ती ऊपर आ जाय और पासमें कोई आसन हथिया ले तो तुम्हें कठोरतापूर्वक उसे सावधान कर देना चाहिये और उसे हटा देना चाहिये, उसे उस-का उचित स्थान दे देना चाहिये; जब वह अपने सच्चे स्वरूपको पहचान जाय, बदल जाय, तभी उसे समीपके दायरेमें घुसने दिया जा सकता है। ठीक इसी तरह तुम्हें अपनी सत्ताके सभी अंगों और तत्त्वोंको, प्रत्येकके मूल्य और गुणके अनुसार, केंद्रीय चेतनाके चारों ओर व्यवस्थित और विन्यस्त करना चाहिये। इसी तरीकेसे तुम्हें अपनी सत्ताको संघटित करना चाहिये। इस तरह तुम्हें समकेंद्रिक घेरोंका एक नमूना तैयार करना चाहिये जिसमें जो घेरा केंद्रके जितना ही नजदीक हो उतने ही अधिक शुद्ध तत्त्वोंसे वह अवश्य बना हुआ हो और इस कारण वह अधिक मूल्य और महत्त्व रखनेवाला हो। यदि तुम इस तरीकेसे अपनी सत्ताके सभी अंगों और प्रत्यंगोंको चैत्य केंद्रके इर्दगिर्द व्यवस्थित कर सको, प्रत्येकको उसके कर्तव्य और उसकी कार्य-पद्धतिके अनुसार उसके ठीक स्थानपर बैठा सको और सबको केंद्रीय चेतनाकी ओर मोड़ दो तथा उसीके द्वारा वे अनुप्राणित और परिचालित हों एवं ऐसा कोई भी अंग न हो जो अपना एक अलग राग अलापे तो फिर यह कहा जा सकता है कि तुमने अपनी प्रकृतिमें पूर्ण सुसंगति स्थापित कर ली है।

यह एक बड़ा ही मजेदार अभ्यास है जिसमें तुम अपने-आपको लगा सकते हो। यदि तुम इसे आरंभ करो और नियमित रूपसे तथा लगनके साथ इसका अनुसरण करो तो इससे तुम्हें महान् आनंद

मिलेगा और लाभ भी मिलेगा। तब काल कभी भारस्वरूप नहीं प्रतीत होगा, वह सुनहले फल प्रदान करेगा। अंतमें, जैसे दो या तीन वर्षके बाद, यदि तुम पीछेकी ओर ताको, तो, तुम देखोगे कि कितना अधिक तुम बदल गये हो, तुम आश्चर्य करोगे कि जैसे तुमने सोचा या कार्य किया वैसे भला तुम कैसे कर सके। तुम देखोगे कि तुम काफी मात्रामें परिवर्तित एक व्यक्ति बन गये हो। तुम इस परीक्षणको स्वयं आजसे ही आरंभ कर सकते हो और देख सकते हो कि किस तरह तुम्हारा जीवन अधिकाधिक सुखद, आकर्षक और सार्थक बनता जा रहा है।

मानवसेवा और भगवत्सेवा

मनुष्यजातिकी सेवा, करने, उसकी भलाई करनेकी इच्छा करना तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा और अहंकारको सूचित करता है? कैसे?

तुम भला मनुष्यजातिकी सेवा करना क्यों चाहते हो? तुम्हारा उद्देश्य क्या है? तुम्हारा अभिप्राय क्या है? क्या तुम जानते हो कि मनुष्यजातिकी भलाई किस बातमें है? और क्या तुम स्वयं मनुष्य-जातिसे भी अधिक अच्छे रूपमें यह जानते हो कि उसके लिये अच्छा क्या है? अथवा क्या तुम इसे भगवान्‌की अपेक्षा अधिक अच्छे रूपमें जानते हो? तुम कहते हो कि भगवान् सर्वत्र हैं, इसलिये यदि तुम मनुष्यजातिकी सेवा करते हो तो यह भगवान्‌की सेवा हो जाती है। बहुत अच्छा, यदि भगवान् सर्वत्र हैं तो वह तुममें भी हैं; अतएव सबसे उत्तम और अत्यंत युक्तिसंगत बात तो यह होगी कि तुम स्वयं अपनी सेवासे ही आरंभ करो।

तब क्या मनुष्यजातिकी सेवा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं? क्या अस्पताल, सेवा-सदन, दानशील संस्थाएं मनुष्यजातिके लिये उप-योगी नहीं सिद्ध हुई हैं? क्या लोकोपकारकी भावना मानवजीवनमें कोई सुधार और उन्नति नहीं ले आयी है?

क्या ले आयी है, मैं पूछती हूं। तुमने जहां-तहां कुछ थोड़ेसे लोगोंकी सहायता करनेकी कोशिश की है। परंतु जो कुछ करनेकी आवश्यकता है उसके मुकाबले वह कितना-सा है? कहावतके अनुसार, समुद्रमें एक बूंद है या उससे भी कम ही है। क्या तुम्हें पाल (Paul) के संत विन्सेण्ट (St. Vincent) की कहानी याद है? उन्होंने गरीबोंको दान देना आरंभ किया। पहले दिन १० गरीब थे, दूसरे दिन २० हुए, तीसरे दिन ५० से अधिक और इस तरह गणितशास्त्र-की गुणोत्तर वृद्धिसे भी अधिक उनकी संख्या बढ़ती गयी। और फिर? राजाके मंत्री कोलबर्ट (Colbert) ने उन संतकी दुरवस्था देखकर टीका की: "ऐसा मालूम होता है कि हमारा भाई अपने गरीब लोगोंको बेशुमार पैदा करता जा रहा है।"

मैं नहीं समझती कि दानशीलताकी भावनाने मनुष्यकी अवस्था-ओंको किसी तरह सुधारा है। मैं नहीं देखती कि मनुष्य पहलेकी अपेक्षा रोग और दरिद्रताके अधिक या कम अधीन हुए हैं। दान-शीलता बराबर ही रही है और उसके साथ-साथ मनुष्यकी दुरवस्था भी सर्वदा ही बनी रही है। मैं नहीं समझती कि दोनोंके बीचका अनुपात किसी भी अंशमें कम हुआ है। तुम्हें याद होगा कि किसी व्यक्तिने मनुष्यके दुःख-कष्टका उपशमन और विनाश करनेके लिये किये गये विज्ञानके प्रयासोंकी चर्चा करते हुए यह व्यंगपूर्ण पर उप-युक्त टिप्पणी की थी: "बिचारे परोपकारी व्यक्ति बड़ी दुर्दशाम पड़ जायंगे, उनका रोजगार ही मारा जायगा!" मनुष्यको जो दूसरों-का उपकार करनेकी इच्छा होती है उसका कारण अन्यत्र होता है, वह अपनी प्रसन्नताके लिये उसे करता है, आत्मतुष्टिके लिये उसे करता है। वह कार्य करनेसे तुम्हें आनंद मिलता है: तुम्हें ऐसा बोध होता है कि तुम कुछ कार्य कर रहे हो, तुम मनुष्य-परिवारके एक मूल्यवान् सदस्य हो, दूसरोंके जैसे नहीं हो, तुम एक विशिष्ट व्यक्ति हो। यह सब भला इसके सिवा और क्या है कि तुम दंभी हो, आत्म-गौरवसे भरपूर हो, अपने-आपसे परिपूर्ण हो? जब मैंने यह

कहा था कि तुम महत्त्वाकांक्षा या अभिमानके वशीभूत होकर ही परोप-कारी बनते हो तब मेरा मतलब यही था। निश्चय ही, यदि यह कार्य तुम्हें पसंद हो, यदि तुम्हें इसे करनेमें प्रसन्नता होती हो तो तुम्हें उसे करने और जारी रखनेकी पूर्ण स्वतंत्रता है। पर यह न समझो कि तुम मनुष्यजातिकी कोई सच्ची या उपयोगी सेवा कर रहे हो; विशेषकर यह तो कभी कल्पना मत करो कि उसके द्वारा तुम भग-वान्‌की सेवा कर रहे हो, आध्यात्मिक जीवन यापन कर रहे हो या योग कर रहे हो।

जो भावना हमारे अंदर परोपकारवादको जगाती है उसका स्वरूप बतलानेके लिये मैं यहां उसकी थोड़ीसी व्याख्या करूंगी। दानी मनुष्य उस चीजके लिये उदारतापूर्वक दान देता है जिसे लोग जानते हैं, स्वीकार करते हैं, आदरकी दृष्टिसे देखते हैं; अगर वह देखता है कि उस कार्यके साथ उसका नाम जोड़ दिया गया है, उद्घोषित और प्रचारित किया गया है, अगर उस कार्यसे उसे नाम-यश मिलता है तो उसका हृदय विशाल हो जाता है। परंतु तुम यदि उससे किसी ऐसे कार्यके लिये एक कौड़ी भी मांगो जो सच्चा कार्य हो, जिसमें कोई दिखावा न हो या जो निराला हो, ऐसी चीजके लिये मांगो जो सच-मुचमें आध्यात्मिक और दिव्य हो तो तुम देखोगे कि उसकी थैलीका डोरा कड़ा हो गया है, उसका हृदय बंद हो गया है। जिस दानका दाताके लिये कोई मूल्य नहीं होता, उसके लिये साधारण परोपकार-वादीके अंदर कोई आकर्षण नहीं होता। निस्संदेह, एक दूसरी कोटि-के, इससे उलटे प्रकारके भी दानी होते हैं जो निश्चित रूपसे अज्ञात रहना चाहते हैं: अगर उनका नाम घोषित कर दिया जाय तो वे अप्रसन्न हो जायेंगे। परंतु यहां भी उद्देश्य बहुत भिन्न प्रकारका नहीं होता; वास्तवमें यहां भी बस वही उद्देश्य गलत तरीकेसे, मानों उलटे रूपमें काम करता होता है। यहांपर आत्मगौरवका एक बढ़ा-चढ़ा तत्त्व मौजूद होता है : मनुष्य देता है और लोग नहीं जानते कि किसने दिया, यह एक ऐसी चीज है जिसके कारण और भी अधिक गर्व होता है।

जब तुम कोई कार्य महज इस कारण करते हो कि साधारणतया वही कार्य किया जाता है और साधारणतया कार्य उसी ढंगसे किये जाते हैं तब उससे पहले तुम्हें अपने अंदर झांकना चाहिये, अपने-आपसे प्रश्न करना चाहिये। तुम दूसरोंकी भलाई कर सकते हो यदि तुम्हें मालूम हो कि वह भलाई क्या चीज है और यदि वह चीज तुम्हारे अंदर मौजूद हो। अगर तुम दूसरोंकी सहायता करना चाहते हो तो तुम्हें उनकी अपेक्षा ऊंचे स्तरपर अवश्य होना चाहिये। यदि तुम दूसरोंके साथ युक्त हो, स्वभाव और चेतनामें उनके ही स्तरमें हो तो फिर अज्ञान और अंधी क्रियाओंमें भाग लेने तथा उसी अज्ञान और उन्हीं अंधी क्रियाओंको स्थायी बनानेके सिवा तुम और क्या कर सकते हो? अतएव सचमुचमें निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्यका सबसे पहला कर्तव्य है स्वयं अपनी सेवा करना।

यदि तुम यह जाननेकी चेष्टा करो कि तुम क्या हो और तुम कौन हो तो तुम्हें एक अद्‌भुत चीजका पता लगेगा। बस, इसी तरह तुम्हें आरंभ करना चाहिये: "मैं मनुष्यजातिकी सेवा करना चाहता हूं। मैं कैसे सेवा कर सकता हूं? यह 'मैं' कौन है जो सेवा करना चाहता है?" तुम कहते हो, "मैं अमुक व्यक्ति हूं, मेरा यह रूप है और यह नाम है।" परंतु तुम्हारा जो रूप इस समय है वह तो उस समय नहीं था जब कि तुम एक बच्चे थे: वह तो निरंतर बदलता जा रहा है। तुम्हारी देहके सभी अंग संपूर्णत: नये होते जा रहे हैं। तुम्हारे इंद्रियानुभव और हृद्‌गत भाव भी अब वे ही नहीं हैं जो अबसे कुछ वर्ष पहले थे। तुम्हारे विचार और तुम्हारी भावनाएं भी कितनी ही क्रांतियोंमेंसे गुजर चुकी हैं। 'मैं' तो नित्य परिवर्तनशील अवयवोंका एक जोड़ है। ऐसी कोई चीज नहीं जिसे निश्चित रूपमें 'मैं' कहा जाय: यह तो महज परिवर्तनोंका एक चक्र है। एक निस्सार नाम ही बस स्थायी वस्तु प्रतीत होता है। एक समय एक तत्त्व आगे आ जाता है—एक भावना, एक अनुभव, एक प्रवेग—और वही है उस समयके लिये तुम्हारा 'मैं'।

दूसरे क्षण एक दूसरा तत्त्व ऊपर जा जाता है और तुम्हारा 'मैं' बन जाता है। तुम एक 'मैं' नहीं हो, बल्कि बहुतसे 'मैं' के एक समूह हो। अतएव अनेक 'मैं' मेंसे किसी एक 'मैं' की इस घोषणाका क्या मूल्य है कि मैं उस लक्ष्यको, सत्यको, कर्तव्यको जान गया हूं जिसका कि तुम्हें अनुसरण करना है? इस तरह यदि तुम और आगे बढ़ो, पूर्ण रूपसे और सच्चाईके साथ अपना परीक्षण और विश्लेषण करो तो तुम अकस्मात् सद्वस्तुको पा जाओगे। तुम देखोगे कि 'मैं' का बिलकुल ही कोई अस्तित्व नहीं है। जो कुछ है वह कोई दूसरी ही चीज है: वह तो एक अविभाज्य सद्वस्तु है, एकमात्र भगवान् है।

यही वह आत्मान्वेषण है जो तुम्हें मौलिक ज्ञान और जीवनका आधार प्रदान करेगा, —यह अन्वेषण कि तुम्हारा कहलानेवाला तुम्हारा कोई स्वरूप विद्यमान नहीं है, सचमुचमें तुम कुछ नहीं हो। 'कुछ नहीं होने' का यह भाव तुम्हारी सारी सत्तामें व्याप्त हो जाना चाहिये, तुम्हारी सत्ताके सभी अंगोंमें भर जाना चाहिये और उसके बाद ही सत्य तुम्हारे सामने प्रकट हो सकता है और भगवान्की उपस्थितिका अनुभव हो सकता है। परंतु अभीतक बराबर तुम जो कुछ करते आ रहे हो वह इसके एकदम विपरीत है, तुम तो अपने अहंकारको, अपने दंभको प्रस्थापित करते हो —यह दिखलाते हो कि तुम कोई विशिष्ट व्यक्ति हो, तुम कुछ कर सकते हो, संसारको तुम्हारी सहायताकी आवश्यकता है और तुम वह सहायता दे सकते हो। परंतु ऐसी कोई बात नहीं है। जब तुम इस सत्यका पता पा जाओगे और इसे स्वीकार करोगे, जब तुम विनीत बन जाओगे और सच्ची नम्रताके साथ जीवन और सद्वस्तुके समीप आओगे तब तुम अपने सच्चे चरित्र और कार्यको देख सकोगे।

गंभीर अर्थमें लिया जाय तो वास्तवमें जब तुम अपनी सेवा करते हो तभी तुम दूसरोंकी भी सबसे अच्छी सेवा करते हो। जब तुम अपने अंदर एक काला दाग, अहंकार, महत्त्वाकांक्षा, स्वार्थपरताका एक बीज ढूंढ़ निकालते हो, जब तुम उसके आवेगके अधीन

नहीं हो जाते वल्कि उसे अतिक्रांत कर जाते हो, जव तुम इस तरह अपने अंदरकी एक पथभ्रष्ट करनेवाली क्रियाको जीत लेते हो, तो तुम अपनी उसी क्रियाके अंदर दूसरोंके लिये भी विजय ले आते हो, तुम दूसरोंमें भी वही संभावना उत्पन्न करते हो। इस व्यक्तिगत आदर्शको प्रस्थापित करनेसे अधिक शक्तिशाली दूसरा कोई कार्य नहीं हो सकता। यह बात नहीं है कि दूसरे तुम्हें देखते हैं और तुम्हारी नकल करते हैं; बल्कि उसका प्रभाव अधिक सूक्ष्म और अधिक शक्तिशाली होता है। तुम सुयोग पैदा करते हो, एक उद्‌घाटन ले आते हो, अपने अनुभवकी शक्तिको क्रियामें उतार लाते हो जब कि दूसरोंको उसका कोई ज्ञान नहीं होता; दूसरोंको जो अदृश्य सहा-यता इस प्रकार दी जाती है केवल उसीसे वे लाभान्वित होते हैं। परंतु यहां भी तुम्हें अपने ऊपर चौकसी रखनी होगी। तुम्हें यह नहीं कहना चाहिये कि, "मैं दूसरोंकी सहायता करूंगा, अतएव मुझे उन्नति कर लेने दो।" तुम्हारे अंदर लेन-देन या मोल-तोलका ऐसा कोई भाव नहीं होना चाहिये। बस, अपने निजी व्यापारमें अपनेको आवद्ध रखो; दूसरोंपर कैसे प्रभाव पड़ता है या नहीं पड़ता यह तुम्हारा प्रश्न नहीं है। अगर तुम इस प्रकारकी भावनाका पोषण करोगे तो तुम उसी दंभ और अभिमानको पीछेके दरवाजेसे अपने अंदर बुला लोगे। तुम्हारा जीवन तो बस फूलके खिलनेके जैसा होना चाहिये; फूल बस आत्मपरिपूर्णताके अपने निजी हर्ष और आनंदके लिये खिलता है; उस प्रक्रियामें, अपने महज अस्तित्वके द्वारा ही वह चारों ओर अपना सुवास फैलाता है, अपने आनंदप्रद प्रकंपनसे अपने परिपार्श्वको भर देता है, पर वह सब महज अपने-आप होता है, वह जान-बूझकर या किसी उद्देश्यसे वह सब नहीं करता। ठीक उसी तरह वह जीव भी करता है जो अपनेको पूर्ण बनाता है: वह अपने लिये जो विजय ले आता है वह संक्रामक होती है और अपने-आप ही फैलती है।

मैंने कहा है कि तुम्हारा अहं एक भ्रम है। तुम्हारे 'मैं' का बिलकुल ही अस्तित्व नहीं है। ऐसी कोई चीज नहीं है जिसे पृथक्,

स्वतंत्र व्यक्तित्व और व्यक्तिगत चरितार्थता कहा जाय। एकमात्र भगवान् हैं और उनका संकल्प है। वही अद्वितीय और एकमेव तथा सबको अपने अंदर समाविष्ट करनेवाली सद्वस्तु हैं। तब भला सत्ताकी इस विभिन्नता और बहुविधताका मूल स्रोत क्या है? इन व्यष्टियों और व्यक्तित्वोंका, संसारके रंगमंचपर उनके प्रकट होने तथा क्रीड़ा करनेका अर्थ, यदि कोई अर्थ हो तो, क्या है?

यह एक दूसरी ही कहानी है। इसे मैं किसी आगामी मौकेके लिये छोड़ रही हूं।

आध्यात्मिक परिवार

जब एक-दूसरेसे पृथक् बहुत दूर-दूर रहनेवाले, संसारके विभिन्न भागोंमें रहनेवाले या अत्यंत अलग-अलग कार्योंमें लगे हुए लोग मिलते हैं, एकत्र होते हैं और एक ही उद्देश्यसे कार्य करते हैं तब उसका यह अर्थ है कि वे एक जातिके अंतरात्मा हैं और वे दूसरे जीवनोंमें भी पहले एक साथ मिल चुके और कार्य कर चुके हैं। उन्हें ऐसा लगा था कि वे एक ही परिवारके सदस्य हैं और इसलिये उन्होंने एक साथ कार्य करने तथा एक ही आदर्शकी पूर्त्तिके लिये एक ही प्रयासमें सहयोग देनेका निर्णय किया था। निःसंदेह, आत्माओंका जो चैत्य स्वरूप है उसमें वे, मानो, बड़े-बड़े परिवारोंमें बंटे होते हैं; वे जिस कार्यमें लगे होते हैं उसे हाथमें लेने और आगे चलानेके लिये तबतक बार-बार दल बांधकर नीचे उतरते हैं जबतक कि वह कार्य पूरा नहीं हो जाता।

एक विशेष मुहूर्त्तमें, जब समय हो जाता है, उनकी पुकार होती है। आत्माएं सोये हुए बच्चोंके समान हैं जो चैत्य जगत्में शांति और आराममें पड़े रहते हैं तथा दूसरे जन्मकी प्रेरणा या आज्ञाकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। जैसे ही आज्ञा दी जाती है वैसे ही वे जग जाते हैं और पृथ्वीकी ओर नीचे दौड़ पड़ते हैं। वे जब इस प्रकार

पार्थिव वातावरणमें आ गिरते हैं तब वे अब एक साथ बिलकुल नहीं होते, वे सारी पृथ्वीभरमें छितर जाते हैं। उनमेंसे किसीको यह भी नहीं मालूम होता कि वह कहां गिर रहा है। फिर एक बार जब वे यहां नीचे जड़ अवस्थाओं और परिस्थितियोंमें आ जाते हैं तब सारी बातें ही एकदम दूसरा रूप ले लेती हैं। क्योंकि, आंतरिक प्रवेग, मूल उद्देश्य आवृत हो जाता है; चैत्य पुरुष अपने-आपको भूल जाता और अब वह ऐसी शक्तियों, वस्तुओं और व्यक्तियोंसे घिर जाता है और सीमित हो जाता है जो शायद उसके स्वभावके लिये एकदम अपरिचित और विरोधी होते हैं। अब आता है आत्माका कठिन प्रयास, अपने-आपको पानेके लिये, सूत्रके खोये सिरेको खोजनेके लिये प्रयास। आंतरिक प्रवेग पर्याप्त प्रबल होना चाहिये, मूल संकल्प जीवके लिये काफी मात्रामें सुनिश्चित होना चाहिये जिसमें वह सभी बाधाओंको पार कर सके, सभी परिवर्तनोंमेंसे गुजर सके, भूल-भुलैया-जैसी यात्राके सभी चक्करोंके भीतर कार्य कर सके और अंतमें अपने लक्ष्यपर पहुंच सके। कुछ आत्मा संभवतः एक विशिष्ट जीवनके अंदर बिलकुल ही नहीं पहुंचते या कुछ दूरीपर आकर रुक जाते हैं; दूसरे सीधी रेखामें नहीं पहुंचते, बल्कि, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, एक टेढ़े-मेढ़े रास्तेसे चक्कर काटते हुए पहुंचते हैं। दूसरे शब्दोंमें, अपने बाहरी मन और प्रवेगमें वे दूसरी चीजोंकी खोज करते हैं, वे ऐसे विषयोंमें रस लेते हैं जो अंतरात्माके विषयसे बहुत अधिक भिन्न होते हैं—योगकी बात पूछनेवाली उस महिलाकी तरह, क्योंकि उसका ख्याल था कि एक योगी उसके बिगड़े हुए सौंदर्यको वापस दे देगा। और फिर भी अंतरात्मा ऐसे तुच्छ या मूर्खतापूर्ण साधनोंका उपयोग मनुष्यको अपनी ओर मोड़नेके लिये, धीरे-धीरे उस स्थान या परि-वारकी ओर ले जानेके लिये करता है जिसके साथ वास्तवमें उसका संबंध होता है।

यह स्थूल जगत् ऐसी चीजोंसे भरा हुआ है जो तुम्हें अपने आत्माकी खोजसे अलग खींचती हैं, अपने घर पहुंचनेसे रोकती हैं।

सामान्यतया अज्ञ प्रकृतिकी शक्तियां तुम्हें इधर-उधर उछालती-फेंकती हैं और तुम्हें निपट मूर्खतासे भरी चीजें करनेके लिये भी विवश करती हैं। बस, एक ही समाधान है अपने चैत्य पुरुषको ढूंढ़ निकालना; और एक बार जब तुम उसे पा लेते हो तब सारी शक्ति लगाकर उसे पकड़े रखना और किसी भी प्रलोभनसे, किसी भी प्रेरणाके कारण चाहे वह कुछ भी क्यों न हो, वहांसे अलग न होना।

२

साधना

कृच्छ्र साधना

तुमने कीलोंपर सोये हुए संन्यासियोंको अवश्य देखा होगा। वे लोग ऐसा क्यों करते हैं? संभवतः अपनी साधुताको सिद्ध करनेके लिये। परंतु जब वे खुले आम ऐसा करते हैं तब यह संदेह करना न्यायसंगत ही प्रतीत होता है कि वह दिखावेकी जैसी कोई चीज है। शायद ऐसे लोग भी हैं जो सच्चाई और गंभीरताके साथ यह सब करते हैं, अर्थात् वे महज दिखावा नहीं करते। ऐसे प्रसंगोंपर हम पूछ सकते हैं कि वे ऐसा क्यों करते हैं। वे कहते हैं कि इससे उन्हें शरीरके प्रति अपनी अनासक्तिका परिचय मिल जाता है। कुछ दूसरे लोग हैं जो थोड़ा और आगे जाते हैं और कहते हैं कि अपने आत्माको मुक्त करनेके लिये हमें शरीरको अवश्य कष्ट पहुंचाना चाहिये। परंतु मैं कहती हूं कि प्राण-पुरुषको दुःखका चस्का लगा होता है और दुःख-कष्टके इस विकृत स्वादके लिये वह शरीरपर दुःख-कष्ट लाद देता है। मैंने ऐसे बच्चोंको देखा है जो जख्मी होने-पर अपने जख्मको जोरसे दबाते हैं जिसमें उन्हें अधिक दर्द हो और इसमें उन्हें एक प्रकारका सुख मिलता है। मैंने बड़े लोगोंको भी ऐसा करते हुए देखा है—अवश्य ही नैतिक रूपमें। यह बहुत प्रसिद्ध बात है। मैं सर्वदा ही लोगोंसे कहती हूं, "यदि तुम दुःखी हो तो इसका कारण यह है कि तुम दुःखी होना पसंद करते हो। यदि तुम कष्ट भोगते हो तो इसका कारण यह है कि तुम कष्ट पाना पसंद करते हो, नहीं तो वह तुम्हारे पास न होता।" मैं इसे एक अस्वस्थ अवस्था मानती हूं; क्योंकि यह सामंजस्य और सौंदर्यकी

उलटी अवस्था है; यह तीव्र संवेदन प्राप्त करनेकी एक प्रकारकी गंदी आवश्यकता है। क्या तुम जानते हो कि चीन एक ऐसा देश है जहां अत्यंत क्रूरतापूर्ण यंत्रणाओंका, कल्पनातीत पद्धतियोंका आविष्कार किया गया है? जब मैं जापानमें थी तब मैंने एक जापानीसे जो चीनी लोगोंको बहुत अधिक पसंद करता था, पूछा कि ऐसा आविष्कार क्यों किया गया। उसने मुझे उत्तर दिया, "इसका कारण यह है कि सुदूर पूर्वके लोगोंमें, जापानियोंमें भी, संवेदनाकी शक्ति बड़ी कुंद होती है। वे कम ही किसी चीजको अनुभव करते हैं; जबतक यंत्रणा बहुत तीव्र नहीं होती तबतक वे कुछ भी अनुभव नहीं करते।" उन्हें चरम कोटिकी तीव्र यंत्रणाओंकी खोजमें अपनी बुद्धिका उपयोग करनेके लिये बाध्य होना पड़ा। हां, जो लोग चैतन्य-रहित या तामसिक होते हैं, वे जितना ही अधिक चैतन्यहीन होते हैं उतना ही अधिक उनमें तमस् होता है, ऐसे सभी लोगोंकी संवेदना-शक्ति कुंद हो जाती है; यदि उन्हें अनुभव करना हो तो उन्हें बड़ी तीव्र संवेदनाकी आवश्यकता होती है। इसी कारण साधारणतया वे क्रूर बन जाते हैं, क्योंकि क्रूरता बहुत तीव्र संवेदनाएं प्रदान करती है। जब तुम किसी आदमीको कष्ट पहुंचाते हो तो तुम्हारे अंदर जो स्नायविक तनाव उत्पन्न होता है वह एक प्रकारका संवेदन ले आता है; उन्हें अनुभव करनेके लिये उस तनावकी आवश्यकता होती है, अन्यथा वे कुछ भी नहीं अनुभव करेंगे। यही कारण है कि सारी-की-सारी जातियां ही विशेष रूपसे निर्दयी हो गयी हैं। वे चेतनाहीन हैं, अपने प्राण-भागमें एकदम निर्जीव हैं। वे मानसिक रूपमें या अन्य रूपमें अचेतन न भी हों, परंतु प्राणिक रूपमें और शारीरिक रूपमें, सबसे अधिक शारीरिक रूपमें, अचेतन हैं।

यदि किसीमें सौंदर्य-बोध हो तो क्या वह क्रूर बन सकता है?

यह एक मनोवैज्ञानिक समस्या है। यह उस भागपर निर्भर करता है जहांपर सौंदर्य-बोध होता है। मनुष्यमें भौतिक सौंदर्य-

बोध, प्राणिक सौंदर्य-बोध और मानसिक सौंदर्य-बोध हो सकता है। अगर तुममें नैतिक सौंदर्य-बोध हो, यदि तुममें सभ्यता और सज्जनताका बोध हो तो तुम कभी क्रूर नहीं हो सकते। तुम बराबर ही उदार बने रहोगे; तुम्हारे चाल-चलनमें सुन्दर भाव-भंगिमाएं विद्यमान रहेंगी। परंतु, जैसा कि मैं प्रायः ही कहती हूं, मनुष्य एक साथ ही बहुत-से भिन्न-भिन्न टुकड़ोंसे बना हुआ है। उदाहरणार्थ, मैं कलाकारोंसे बहुत अधिक मिलती-जुलती रही हूं। विगत शताब्दिके अंतिम कालके तथा वर्तमान शताब्दिके आरंभिक कालके प्रायः सभी महान् कलाकारोंको मैं जानती थी। मैं उनके बीच रहती थी। वास्तवमें उनमें बहुत अधिक सौंदर्य-बोध था। परंतु नैतिक रूपमें उनमेंसे कुछ लोग बड़े ही क्रूर थे। इसका कारण यह है कि जब तुम किसी कलाकारको उसकी चित्रशालामें काम करते हुए देखते हो तब तुम उसे महान् सौंदर्यके वातावरणमें निवास करते हुए देखते हो, परंतु जब तुम उन महाशयको घरमें देखते हो तब वह एक दूसरे ही व्यक्ति होते हैं, चित्रशालाके कलाकारसे उनका बहुत ही कम संपर्क होता है। यहां वह साधारण और नीच बन जाते हैं। उनमेंसे बहुतेरे सचमुचमें ऐसे ही थे। परंतु अपवाद सर्वदा ही होता है। कुछ लोगोंमें एकीभूत व्यक्तित्व होता है, तात्पर्य, वे अपनी कलाके अनुरूप जीवन यापन करते हैं और यथार्थमें उदार, महान् होते हैं।

क्या कृच्छ्र साधन सहायक नहीं होते ?

मैं नहीं समझती। उस पथसे तुम कुछ भी सुधार नहीं कर सकते। तुम अपने-आपको इस भ्रममें डालते हो कि तुम उन्नति कर रहे हो, पर सच पूछा जाय तो तुम किसी चीजसे मुक्त नहीं होते। इसका प्रमाण यह है कि जैसे ही तुम उन अभ्यासोंको बंद कर देते हो, पुरानी चीजें बदला लेनेकी भावनाके साथ भयंकर रूपमें वापस आ जाती हैं।

परंतु स्वभावतः ही सारी बात उस अर्थपर निर्भर करती है जो तुम उस शब्दपर आरोपित करते हो। यदि इसका अर्थ हो अपनी कामनाओंके अधीन न होना तो निश्चय ही यह कृच्छ्रता नहीं है, यह समझदारीकी बात है, एक अच्छी बात है। कृच्छ्रताका सामान्यतया लोग अर्थ समझते हैं उपवास करना, कठोर शीत या तपती हुई गर्मीको झेलना, तेज कीलोंके बिछौनेपर पड़े रहना, अर्थात् किसी-न-किसी रूपमें शरीरको यंत्रणा प्रदान करना। यह चीज तुम्हें महज आत्मगौरवका भाव या आध्यात्मिक अहंकार प्रदान करती है, इससे अधिक कुछ नहीं। इस तरीकेसे न तो तुम्हें सच्चा संयम प्राप्त होता है न प्रभुत्व। लोग इसे इसलिये करते हैं कि यह सीधा और आसान काम है, यह तुम्हारे दंभको तुष्ट करता है। तुम अपने तपस्वी होनेके गुणोंका दिखावा करते हो और इस छद्मवेशके द्वारा बहुत-सी अन्य चीजोंको छिपा रखते हो।

जो हो, साधुओंके कठिन करामातोंके द्वारा शरीरका दमन करनेके बदले शांत भावसे, समझ-बूझकर अपनी वृत्तियोंको वशमें करना, उन्हें उबल पड़नेसे रोकना बहुत अधिक कठिन है। किसी वस्तुको पानेकी अपेक्षा अपने पास रहनेवाली वस्तुके प्रति आसक्त न होना बहुत अधिक कठिन है। फिर भी यह एक सीधा-सा सत्य है जिसे लोग युगोंसे स्वीकार करते आ रहे हैं। कोई चीज अपने अधिकारमें न रखना या अपने अधिकारमें रहनेवाली चीजोंको घटाकर कम-से-कम कर देना आसान है: परंतु कठिन है उन चीजोंके प्रति आसक्त न होना जो तुम्हारे अधिकारमें आ जाती हैं। इसका मतलब होता है एक उच्च स्तरका नैतिक मूल्य। इसे बस करनेकी कोशिश करो और तुम्हें पता चल जायगा कि इसके लिये क्या मूल्य चुकाना पड़ता है; जब कोई चीज तुम्हारे पास आती है तब उसे स्वीकार करो और उसका व्यवहार करो और यदि वह, किसी भी कारणसे, चली जाय तो उसे चली जाने दो, उसके लिये दुःख मत करो, उसे पकड़ रखनेकी कोशिश मत करो; जब वह आवे तब उसे

अस्वीकार मत करो, जब वह जाय तब दुःख मत करो — स्वभावतः ही मैं स्थूल वस्तुओंकी, जीवनमें व्यवहार करनेके लिये आवश्यक वस्तुओंकी चर्चा कर रही हूं।

भौतिक त्यागसे कोई समाधान नहीं होता। क्योंकि दोष तो भीतर हैं। तुम बाहरसे आनेवाले संस्पर्शोंसे डरते हो और गुफाओं, जंगलों तथा पहाड़के शिखरोंपर, एकदम अकेले रहनेके लिये चले जाते हो। परंतु तुम्हें दूसरोंसे कुछ उधार लेनेकी कोई जरूरत नहीं; स्वयं तुम्हारे ऊपर ही काफी बोझ लदा हुआ है। सच पूछो तो, वे चीजें यदि तुममें न होतीं तो तुम्हें वे दूसरोंमें भी न दिखायी दी होतीं। तुम्हें बाहरसे महज इसी कारण छूत लग जाती है कि तुम्हारे भीतर रोगके कीड़े मौजूद हैं। बहुत सत्यताके साथ हम कह सकते हैं कि आवेगकी महान् लहरें मनुष्यके भीतर खेल रही हैं, वे उनके अंदर उत्पन्न नहीं होतीं। पर कोई मनुष्य यदि पूर्ण रूपसे पवित्र हो, उसमें किसी आवेगकी कोई संभावना न हो तो वे लहरें लगातार शताब्दियोंतक उसके ऊपरसे गुजरती रह सकती हैं पर वह उनसे प्रभावित नहीं होगा या उसे वे छू भी नहीं सकेंगी। वह उन्हें देख सकता है, जब वे गुजरती हैं तब उन्हें वह आकाशमेंसे गुजरनेवाले तूफानकी तरह देख सकता है पर वह अपने अंदर कुछ भी अनुभव नहीं करेगा।

जब हमारे अंदर बाहरी प्रकंपनका उत्तर देनेवाला कोई प्रकंपन होता है तब इसका मतलब है कि वह प्रकंपन पहलेसे ही हमारे भीतर था, नहीं तो कोई भी बाहरी प्रकंपन हमारे भीतर नहीं घुस पाता या अपनी कोई छाप नहीं छोड़ पाता। अचानक बिना किसी कारण भय फैलनेका — किसी भीड़के अंदर प्रत्येक व्यक्तिमें एक साधारण आतंक घुस आनेका — कारण बस यही है। परंतु ऐसे आतंकको रोका जा सकता है यदि वहां दो-एक व्यक्ति ऐसे हों जो इसका प्रतिरोध कर सकें, जो उससे अछूते हों, जो उसके प्रकंपन-क्षेत्रके बाहर हों। ऐसे व्यक्ति उस परिस्थितिको सुधार सकते हैं और भगदड़को रोक सकते हैं। ऐसी बात बार-बार घटित हुई है।

प्रत्येक हलचल, प्रत्येक प्रकंपन, प्रत्येक शक्ति संक्रामक होती है, क्योंकि छूत लगनेका कारण वहां पहलेसे ही मौजूद रहता है।

उन्नति करनेके लिये प्रयास करनेकी प्रवृत्ति सर्वदा सहज भावसे क्यों नहीं आती, विशेषकर हम लोगोंमें जो कि यहां आश्रममें रहते हैं?

इसका कारण यह है कि मनुष्यकी भौतिक प्रकृति साधारणतया तामसिक होती है। प्रयास करनेकी प्रवृत्ति प्राणमें स्वाभाविक होती है। परंतु सामान्यतया प्राण अपनी निजी तुष्टिके लिये प्रयास करता है। मैं नहीं समझती कि स्थूल प्रकृति स्वयं अकेली छोड़ दी जाने-पर सहज भावमें किसी प्रयासमें प्रवृत्त हुआ करती है; उसे कुछ क्रियाशीलताकी आवश्यकता तो होती है पर होती है खूब दबी हुई।

यहांपर बात कुछ दूसरे प्रकारकी है। शिक्षण या अभ्यासका जो सिद्धांत यहां अपनाया जाता है वह है स्वतंत्रताका सिद्धांत। यहां-का जीवन अधिक-से-अधिक स्वतंत्रताके ऊपर संगठित किया गया है; दूसरे शब्दोंमें, यहां नियम-कानून, विधि-निषेध घटाकर कम-से-कम कर दिये गये हैं। संसारमें माता-पिता जिस तरीकेका अनुसरण करते हैं और जिसमें निरंतर ऐसे उपदेश दिये जाते हैं: इसे मत करो, उसकी मनाही है, इसे अवश्य करना चाहिये पर उसे नहीं इत्यादि, उसके साथ यदि तुम हमारे तरीकेका मुकाबला करो तो तुम अंतर समझ जाओगे। स्कूल और कालेजमें, सर्वत्र ही, हमारे यहांके नियमों-से अनंतगुना अधिक कठोर नियम हैं। अतएव, अपनी उन्नतिके लिये अपने ऊपर कोई अलंघ्य शर्त्त न होनेके कारण, तुम जब चाहते हो तभी उसके लिये कार्य करते हो और जब तुम्हें उसे करनेकी इच्छा नहीं होती तब तुम उसे नहीं करते; तुम बहुत हलके रूपमें ही विषय-को लेते हो।

निःसंदेह, कुछ लोग ऐसे हैं जो स्वाभाविक ढंगसे प्रयास करते हैं।

और आध्यात्मिक दृष्टिसे उसका मूल्य अनंतगुना अधिक है। तुम उन्नति करते हो, क्योंकि तुम अपने अंदर वैसा करनेकी आवश्यकता अनुभव करते हो, क्योंकि यह एक ऐसा प्रवेग है जो तुम्हारी सत्ताकी गहराइयोंमेंसे उमड़ पड़ता है, इसलिये नहीं कि एक विवश करने-वाली बाहरी शक्तिसे तुम चालित होते हो। जो कुछ तुम सहज भावसे और सच्चाईके साथ अपने-आप करते हो वह तुम्हारी सत्ता-का ही कोई अंश और तंतु होता है। तुम कोई काम करते हो पर इसलिये नहीं कि अगर तुम उसे करोगे तो तुम इनाम पाओगे और अगर तुम नहीं करोगे तो सजा पाओगे। परंतु कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि कोई चीज तुम्हारे पास या तुम्हारे अंदर आवे और तुम्हें यह भान करावे कि तुम्हारे प्रयासको लोग पसंद करते हैं, परंतु वह प्रयास स्वयं उस कारणसे ही नहीं किया जाता। निःसंदेह, यहांपर सारी बातें इस ढंगसे व्यवस्थित की गयी हैं कि कुछ करने और उसे अच्छी तरह करनेका संतोष ही वह सबसे उत्तम पुरस्कार है जो यहां मनुष्यको मिलता है और कोई काम बुरे ढंगसे करनेपर या उसे एकदम न करनेपर मनुष्य स्वयं ही अपनेको पूरे तौरसे दंड देता है; कोई दूसरा दंड उससे अधिक सच्चा या अधिक ठोस नहीं हो सकता। यह सब आध्यात्मिक विकासके दृष्टिकोणसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण और बहुमूल्य है, बाहरी नियम-कानून और दबावके द्वारा उत्पन्न चीजोंसे कहीं अधिक अर्थपूर्ण और मूल्यवान् है।

आध्यात्मिक अनुभवका ठीक-ठीक स्वरूप क्या है?

यह एक ऐसी चीज है जो तुम्हें तुम्हारी साधारण चेतनासे अधिक ऊंची किसी चेतनाके संपर्कमें ला देती है। तुम एक विशेष स्थितिमें निवास करते हो और तुम यह जानते भी नहीं कि यह स्थिति ठीक किस तरहकी है। यही है साधारण चेतना। अब एका-एक तुम अपने अंदर एक ऐसी चीजके विषयमें सचेतन हो जाते हो

जो एकदम भिन्न प्रकारकी और वहुत उच्च कोटिकी होती है—यही है आध्यात्मिक अनुभव, फिर वह चाहे जो कुछ भी क्यों न हो। तुम उसे एक मानसिक विचारके रूपमें व्यक्त कर भी सकते हो या नहीं भी कर सकते, तुम उसकी व्याख्या कर भी सकते हो या नहीं भी कर सकते हो, वह वना रह भी सकता है या नहीं भी रह सकता, वह एकदम क्षणिक भी हो सकता है। परंतु चेतनाके मौलिक गुणमें यदि यह अंतर हो, ऊपरसे आनेवाली, एक महत्तर ऊंचाईसे आनेवाली किसी चीजको वह सूचित करती हो, ऐसी चीजको सूचित करती हो जो शुद्ध या सत्य हो, साधारणतया जो कुछ तुम अनुभव करते हो उससे अधिक सत्य और अधिक शुद्ध हो तो उसे ही मैं आध्यात्मिक अनुभव कहती हूं, यद्यपि इस श्रेणीसे संवंध रखनेवाली हजारों वस्तुएं हैं।

मानव-जन्म

गत सप्ताह मैंने जन्मके विषयमें कुछ कहा था और यह वतलाया था कि किस तरह अंतरात्मा शरीरमें प्रवेश करता है। मैंने तुम्हें बताया था कि लगभग सभी मनुष्योंके प्रसंगमें शरीरका निर्माण वहुत असंतोषजनक रीतिसे होता है और अपवाद इतने विरल होते हैं कि उनकी चर्चा नहीं की जा सकती। मैंने तुमसे कहा था कि इस अंधकारपूर्ण जन्मके कारण मनुष्यको अपने साथ विभिन्न वस्तुओंकी एक खासी गठरी ले आनी पड़ती है जिससे पीछे चलकर सामान्यतया उसे मुक्त होना पड़ता है, यदि वह जीवनमें सच्चे रूपमें प्रगति करना चाहता हो। मैंने तुम्हें बताया था कि वस्तुतः तुम्हें आनेके लिये वाध्य किया जाता है, जवर्दस्ती तुम्हारे ऊपर अवस्थाएं लाद दी जाती हैं, और दबावके वश तुम वंश-परंपराके नियमोंको मानते हो। अब, मुझसे पूछा गया है कि कौन सत्ता या कौन वस्तु ऐसी है जो वाध्य करती है? मैं यथासंभव स्पष्ट रूपमें उत्तर देनेकी चेष्टा करूंगी।

शरीरका निर्माण एक पुरुष और एक स्त्रीके द्वारा होता है जो पिता और माता होते हैं। जब ये शरीरका निर्माण करते हैं तब इनके पास कोई उपाय नहीं होता कि ये जिस जीवको जगत्‌में ला रहे हैं उससे यह पूछें कि वह इस शरीरको पसंद करता है या नहीं अथवा यह शरीर उसकी भवितव्यताके साथ मेल खाता है या नहीं। ये, अवश्यंभाविताके नियमवश, शरीरके ऊपर एक पूर्वजानुकृतिको, एक परिस्थितिको और पीछे एक शिक्षाको लाद देते हैं जो सब प्रायः सदा ही भावी उन्नतिके लिये अड़चनें साबित होती हैं। एक विकसनशील अंतरात्माको, अथवा शरीरमें जन्म लेनेवाले एक पूर्णविकसित जीवको अपना सच्चा रास्ता पानेके लिये तथा अपने निजी पूर्ण स्वरूपको ढूंढ़ निकालनेके लिये इन सब परिस्थितियोंके विरुद्ध, जो कि पशूचित जन्मके कारण उसपर लाद दी गयी हैं, युद्ध करना पड़ता है।

परंतु माता-पिताके लिये यह संभव है कि वे इस कार्यको पशुके ढंगसे, महज सहजप्रेरणा और कामनासे चालित होकर न करें,—अधिकांश समय तो लोग संतानकी इच्छा हुए बिना भी ऐसा करते हैं,—बल्कि उसके बदले इस कामको सज्ञान संकल्पके साथ करें, इस बातकी अभीप्सा करते हुए, प्रायः यह प्रार्थना करते हुए करें कि जिस शरीरको वे जन्म देने जा रहे हैं वह उनकी पुकारपर आनेवाले जीवके लिये एक उपयुक्त आकार हो। मैं ऐसे लोगोंको जानती हूं, —ऐसे लोग बहुत नहीं हैं, फिर भी कुछ हैं अवश्य,—जिन्होंने विशेष परिस्थितियोंको चुना, एकाग्रता, ध्यान और अभीप्साका भाव ग्रहण करके अपनेको तैयार किया, तथा जिस शरीरको वे बनानेवाले थे उसमें आनेके लिये किसी विशिष्ट जीवका आवाहन किया। इसके लिये मनुष्यको कुछ गुह्य ज्ञान भी अवश्य होना चाहिये जो साधारण तौरपर लोगोंके पास नहीं होता।

प्राचीन युगोंमें, कुछ सभ्यताओंमें और आज भी कुछ देशोंमें गर्भवती स्त्रियोंको विशेष रूपसे सौंदर्य, सामंजस्य, शांति और सुखके

5

वातावरणमें तथा बहुत स्वस्थ शारीरिक स्थितिमें रखा जाता है जिसमें आनेवाला बच्चा सर्वोत्तम परिस्थितियोंमें आकार ग्रहण कर सके। यह स्पष्ट है कि बात ऐसी ही होनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करना मनुष्यके लिये संभव है। मनुष्य इतनी पर्याप्त मात्रामें विकसित हो चुके हैं कि वे ऐसा नहीं समझ सकते कि यह कोई असाधारण बात है। और फिर भी सच पूछा जाय तो, यह एक असाधारण बात है; क्योंकि ऐसे बहुत थोड़ेसे लोग होते हैं जो इस बातका विचार करते हैं, अधिकांश लोग इस बातका कोई विचार किये बिना ही बच्चे उत्पन्न करनेके आदी हैं। परंतु मनुष्यसे जिस बातकी कम-से-कम आशा की जाती है वह यह है कि उसे कुछ सचेतन होना चाहिये और जो कार्य उसे करना हो उसे सबसे उत्तम अवस्थाओंमें करना चाहिये।

अब, पूर्ण-आकार-प्राप्त सचेतन जीव जब जन्म लेना चाहता है तब वह साधारण तौरपर अपने चैत्य धामसे पृथ्वीके ऊपर किसी स्थानमें अपने अनुकूल चैत्य ज्योतिको खोजनेके लिये अपनी दृष्टि दौड़ाता है। अपने पूर्व जन्ममें, पार्थिव वातावरण छोड़नेसे पहले, उस जीवनमें प्राप्त अपने संपूर्ण अनुभवके फलस्वरूप, उसने अपने भावी जन्मकी अवस्थाओंको चुना था, पर पूर्ण ब्योरेके साथ नहीं, बल्कि मोटा-मोटी साधारण रूपमें। पर ऐसे उदाहरण बहुत विरल होते हैं। संभवतः यहां हम इसकी चर्चा कर सकते हैं, पर अधिकांश मानव-समाजके लिये, यहांतक कि अत्यंत शिक्षित लोगोंके विषयमें भी, यह प्रश्न नहीं उठता।

साधारण रूपमें हम यहां ऐसे जीवकी ही बात कर रहे हैं जो विकसित हो रहा है, जिसके विकासकी प्रक्रिया अभी चल रही है। अब, विकासकी बहुतेरी अवस्थाएं हैं, थोड़ा-सा चमकना आरंभ करनेवाली छोटी-से-छोटी चिनगारीसे लेकर पूर्ण सचेतन तथा पूर्णतः आकार-प्राप्त जीवतक अनेक श्रेणियां हैं। अपना निजी संकल्प रखनेवाली और अपनी निजी भवितव्यताका निश्चय करनेवाली एक पूर्ण सचेतन

सत्ता बननेके लिये अंतरात्माका जो यह आरोहण है, उसके पूरा होने-में प्रायः हजारों वर्ष लग जाते हैं।

परंतु, जब कोई मुक्त और सचेतन अंतरात्मा पृथ्वीपर फिरसे शरीर ग्रहण करना चाहता है तब वह जन्मके पहलेसे ही शरीरपर कार्य करना आरंभ कर देता है। ऐसी अवस्थामें ऐसा कोई कारण नहीं कि वह अपने माता-पिताके अज्ञानके कारण उत्पन्न असुविधाओं-को न स्वीकार करे। उसने किसी कारणसे अपने स्थानको चुना है जो अज्ञानसंभूत कारण नहीं है: उसने एक ज्योति देखी थी — वह महज संभावनाकी ही ज्योति हो सकती है; परंतु वहां ज्योति थी और यही कारण है कि वह वहां आया था। और जब उसने चैत्य लोकसे पृथ्वीकी ओर देखा और अपने जन्मके स्थानको चुना है तब उस चुनावमें पर्याप्त विवेक-शक्ति है जिससे वह कोई भारी भूल नहीं कर सकता।

सबसे उत्तम परिस्थितियोंमें भी, जब कोई जीव जान-बूझकर नीचे आता है और जब उसने भौतिक शरीरके निर्माणमें सज्ञान रूपसे कार्य किया है तो भी, जबतक शरीर सामान्य पशूचित ढंगसे निर्मित होता है तबतक, उसको संघर्ष करना ही होगा और जो कुछ इस मानवीय पशुत्वसे आता है उस सबको उसे सुधारना ही होगा।

माता-पिताओंकी स्वाभाविक रूपमें एक विशेष गठन होती है, उनका एक विशेष प्रकारका अच्छा या बुरा स्वास्थ्य होता है; बहुत उत्तम अवस्थामें भी, उनमें बहुतसी वंशपरंपरागत प्रवृत्तियां होती हैं, उनके अपने जन्म, पारिपार्श्विकता और जैसा जीवन वे बिताते हैं उस जीवनसे आनेवाले अभ्यास तथा अवचेतन और यहांतक कि सचेतन जटिल मानसिक ग्रंथियां भी होती हैं। और यदि वे, अपने निजी ढंगके, असाधारण व्यक्ति भी हों, यदि वे बहुत उत्तम प्रकारके, अत्यंत सचेतन व्यक्ति हों तो भी वे सामान्यतया ऐसी चीजोंकी एक खासी संख्या अपने अंदर लिये रहते हैं जो सच्चे चैत्य जीवनके विरुद्ध होती हैं। और जब माता-पिता अपने बच्चोंको अच्छी-से-अच्छी शिक्षा

देनेकी यथाशक्ति चेष्टा कर चुकते हैं तो भी बच्चे सब प्रकारके दूसरे लोगोंके संपर्कमें आते हैं जिनका बहुत अधिक प्रभाव उनपर पड़ता है, विशेषकर जब वे बहुत छोटे होते हैं; ये प्रभाव अवचेतनाके अंदर घुस जाते हैं और पीछे उन्हें उनसे संघर्ष करना पड़ता है।

अतएव मैं कहती हूं, वर्तमान समयमें जिस ढंगसे शरीर उत्पन्न होता है उसके कारण तुम्हें असंख्य कठिनाइयोंका मुकाबला करना पड़ता है, जो कम या अधिक अवचेतनासे आती हैं, जो ऊपरी चेतनामें आ जाती हैं और जिनके साथ, यदि तुम पूर्ण रूपसे मुक्त होना और स्वाभाविक रूपमें विकसित होना चाहो तो, तुम्हें युद्ध करना पड़ता है।

शरीरकी बात

शरीरकी थकावट एक आंतरिक असामंजस्यके कारण आती है। बाहरी दूसरे कारण बहुतसे हो सकते हैं, परंतु सबका फल होता है वही मूलगत परिस्थिति अर्थात् सत्ताके विभिन्न भागोंमें समतोलताका अभाव। यह समतोलताका अभाव एक ऐसे दिन हो सकता है जब, उदाहरणार्थ, तुम्हारे पास काफी शक्ति तो थी पर तुमने उसमेंसे बहुत अधिक शक्ति खर्च कर दी। परंतु साधारणतया बच्चोंके साथ ऐसा नहीं होता। वे खर्च करते हैं और तबतक खर्च करते रहते हैं जब-तक कि वे असमर्थ ही नहीं हो जाते। एक बच्चा अंतिम क्षणतक बहुत क्रियाशील रहता है और उसके बाद ही वह गहरी नींदमें चला जाता है। एक मिनट पहले वह इधर-उधर घूम रहा था, दौड़ रहा था, चिल्ला रहा था, अब एकाएक वह गहरी नींदमें डूब जाता है। और इसी तरह वह बड़ा होता और शक्ति प्राप्त करता है। अतएव कठिनाई खर्च करनेमें नहीं है। खर्च की हुई शक्तिकी पूर्ति आसानी-से आवश्यक विश्रामके द्वारा की जा सकती है। थकावट और आलस्य भी एक दूसरे ही स्रोतसे आते हैं।

लोग समझते हैं कि जो कुछ वे रोज करते हैं बस उसे ही उन्हें निरंतर करते रहना चाहिये, एक ही कामको, चेतनाकी एक ही स्थिति-में रहते हुए नियमपूर्वक संपादित करते रहना चाहिये और फिर सब कुछ एकदम ठीक हो जायगा। पर बराबर बातें इसी ढंगसे नहीं घटित होतीं। एकाएक नियमित काम-काजके भीतर, तुम नहीं जानते कि क्यों और कैसे, तुम्हारी सत्ताका एक भाग — कोई भावना या विचार — उन्नति करता है, एक नयी चीजका आविष्कार करता है, एक प्रकारकी ज्योति या कोई उच्चतर प्रेरणा ग्रहण करता है। वह भाग मानो बाहरकी ओर निकल पड़ता है और आगे चला जाता है; अन्य अंग पीछे पड़े रह जाते हैं। इससे एक प्रकारका बेमेलपन उत्पन्न हो जाता है और वह थकावट लानेके लिये, बहुत अधिक थका-वट उत्पन्न करनेके लिये बिलकुल पर्याप्त होता है। परंतु वास्तवमें वह थकावट नहीं होती, बल्कि शांत बने रहनेकी, एकाग्र होनेकी, अपने अंदर बने रहनेकी तथा बेमेल अंगोंमें एक नया सामंजस्य तैयार करनेकी कामना होती है। और ऐसी स्थिति या काल बिलकुल आवश्यक होता है जो सीखी हुई बातोंको हजम करनेका, सभी अव-यवोंमें सामंजस्य स्थापित करनेका काल होता है।

मनुष्य अपनी भौतिक सत्तासे संबंधित भीषण अज्ञानमें निवास करते हैं। तुम लोगोंमेंसे कितने लोग जानते हैं कि शरीरको ठीक-ठीक कितने भोजनकी और किस प्रकारके भोजनकी आवश्यकता है? हां, महज यही बात कि कितना खाना चाहिये और कब खाना चाहिये, तुम लोग नहीं जानते। तुम्हें सभी प्रकारकी बातें सिखायी जाती हैं। तुम पढ़ते हो कि क्यों और कैसे यह पृथ्वी घूमती है या सूर्य नहीं घूमता, क्यों और कैसे त्रिभुजके तीनों कोण दो समकोणके बराबर होते हैं: तुम्हारी कल्पना और विचार-विवेककी वृत्तियां कार्यमें लगा दी जाती हैं और तीक्ष्ण बन जाती हैं। परंतु इतना छोटासा सही ज्ञान तुम्हें नहीं होता — कितना भोजन तो तुम्हें लेना चाहिये और किस समय शरीरको उसकी आवश्यकता होती है। हो सकता है कि ठीक जिस

समय उसकी आवश्यकता हो उस समय तुम उस विषयमें एकदम अनजान न होओ। परंतु उचित रूपमें जाननेके लिये एक साधना-की, संभवतः वर्षों लगातार प्रयास करनेकी आवश्यकता होती है। और निश्चय ही उस समय तो तुम्हें वर्षों लग ही जाते हैं जब तुम्हारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अपने मनपर तुम्हें अधिकार जमाना चाहिये, एक ऐसी यथेष्ट सूक्ष्म चेतना प्राप्त करनी चाहिय जो तुम्हारा संपर्क रूपांतर और प्रगतिके तत्त्वोंसे करा दे, यह जानना चाहिये कि किस तरह अपने शरीरके लिये भौतिक प्रयास, स्थूल क्रिया-कलाप और शक्ति खर्च करने और ग्रहण करनेकी ठीक-ठीक मात्रा निश्चित की जाती है, जो कुछ ग्रहण किया गया है और जो कुछ निकाल दिया गया है उन दोनोंके बीचका अनुपात कैसे निश्चित किया जाता है, किस तरह शक्तिका उपयोग करना चाहिये जिससे कि जो संतुलन भंग हो गया था वह फिरसे स्थापित हो जाय और उसके फलस्वरूप वे नये कोष आगेकी ओर ढकेल दिये जायं जो प्रगतिमें पीछे रह गये थे, और उसके बाद किस तरह ऐसी अवस्थाओंका निर्माण किया जाता है जिनमें ऊपरकी ओर प्रगति करनेके लिये आगे-की ओर एक पग उठाना संभव हो इत्यादि-इत्यादि। यह कार्य बहुत ही कठिन है। और फिर भी यह एक ऐसा कार्य है जिसे करना ही होगा यदि तुम चाहो कि शरीर भी रूपांतरित हो जाय। सबसे पहले, तुम्हें अपने शरीरको आंतरिक चेतनाके साथ पूर्ण समस्वर बनाना होगा। इसका अर्थ है कि तुम्हें शरीरके प्रत्येक कोषमें, प्रत्येक छोटी-से-छोटी क्रियामें, सभी अवयवोंकी प्रत्येक गतिविधिमें काम करना होगा। और कुछ नहीं, बस वही एक काम तुम्हें दिन-रात व्यस्त रख सकता है और तुम अन्य किसी चीजकी ओर दृष्टि नहीं डाल सकते। इस प्रयासको, एकाग्रताको, सतत रूपमें कार्य करनेवाली इस आंतरिक दृष्टिको बनाये रखना आसान नहीं है।

यदि शरीरको अवतरित होनेवाली शक्तिका प्रत्युत्तर देना हो तो तुम्हें कोषोंके स्वभावमें, अपने आंतरिक भौतिक संगठनमें पैठ जाना

होगा। सर्वप्रथम, तुम्हें अपने स्थूल कोषोंके विषयमें सचेतन होना होगा, उनकी विभिन्न क्रियाओंको, प्रत्येककी ग्रहणशीलताकी मात्राको, उनमें कौनसी अच्छी अवस्थामें है और कौन नहीं हैं आदि बातोंको जानना होगा। तुम तो इतनी मामूलीसी बातको भी नहीं जानते हो कि तुम थके हुए हो या नहीं, तुम क्यों थके हुए हो यह तो और भी दूरकी बात है। तुम यह नहीं जानते कि तुम्हें कहीं दर्द हो रहा है और वह दर्द वहां क्यों है। ठीक यही कारण है कि तुम डाक्टरके पास दौड़ा करते हो। क्योंकि तुम्हें भ्रम हो गया है कि डाक्टर तुम्हारे भीतर देखकर तुमसे अधिक अच्छे रूपमें यह जान जायगा कि तुम्हारे शरीरके अंदर क्या है और वहां क्या हो रहा है। यह बात बिलकुल ही युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती पर अभ्यास ऐसा ही है। कौन भला अपने अंदर इतने सुनिश्चित, यथार्थ और स्पष्ट रूपमें देख सकता है कि वह ठीक-ठीक यह जान ले कि कौनसी चीज बिगड़ गयी है, वह क्यों बिगड़ गयी है, वह कैसे ऐसी हो गयी है। यह सब विशुद्ध पर्यवेक्षणकी बात है। और फिर केवल उसके बाद ही वह कार्य करनेका प्रश्न उठता है जो एक नयी व्यवस्थाको उत्पन्न करेगा और उस नयी व्यवस्थाको उत्पन्न करना तो बहुत अधिक कठिन कार्य है। और फिर भी यह शरीरके रूपांतर-कार्यका महज श्रीगणेश ही है।

साधना शरीरमें ही करनी होगी!

कुछ लोग जीवनसे उकता जाते हैं। वे इस आशासे चले जाना चाहते हैं कि दूसरी बार जीवन अधिक अच्छा हो जायगा। परंतु हम तुमसे कहते हैं: अपने शरीरसे निकल भागनेमें कोई लाभ नहीं है, शरीरके बिना काम अधिक आसान नहीं हो जायगा। इसके विपरीत, वह और भी अधिक कठिन हो जायगा। यह शरीर तुम्हें योग करनेके लिये दिया गया है। हम लोग यहां पृथ्वीपर मौजूद हैं

और सच पूछा जाय तो इस पृथ्वीपर अपने जीवन-कालमें ही हम प्रगति कर सकते हैं।

तुम पार्थिव जीवनसे बाहर जाकर उन्नति नहीं कर सकते। पार्थिव जीवन, यह स्थूल जीवन मूलतः उन्नति करनेका जीवन है। यहींपर हम विकसित होते और आगे बढ़ते हैं। पार्थिव जीवनसे बाहर जाकर तुम विश्राम करते हो, अन्यथा तुम अचेतन पड़े रहते हो। तुम कहीं अन्यत्र आत्मसात् करनेके इस समयको, विश्रामके कालको या निश्चेतनताके कालको प्राप्त कर सकते हो। परंतु प्रगतिका काल प्राप्त करनेके लिये तुम्हें इस पृथ्वीपर और इस शरीरमें ही आना होगा।

अतएव, जब तुम शरीर ग्रहण करते हो तब वह उन्नति करनेके लिये होता है और जब तुम उसे छोड़ देते हो तब उन्नतिका काल समाप्त हो जाता है। सच्ची प्रगतिका अर्थ है साधना करना, दूसरे शब्दोंमें, अत्यंत सचेतन रूपसे और अत्यंत तीव्र गतिसे प्रगति करना। यों तो प्रकृतिके अग्रगमनके साथ-साथ भी एक प्रकारकी प्रगति होती है परंतु उसमें महज थोड़ासा आगे बढ़नेमें शताब्दियां और शताब्दियां, सैकड़ों शताब्दियां लग जाती हैं।

सच्ची प्रगति साधनाके द्वारा होती है। योगके द्वारा तुम एक ऐसा काम बहुत थोड़े समयमें कर सकते हो जिसमें दूसरी तरह बड़ा लंबा, प्रायः अनंत काल लग सकता है। परंतु सर्वदा यह शरीरके द्वारा और पृथ्वीपर ही किया जा सकता है, अन्यत्र नहीं। इसीलिये यह कहा जाता है कि जबतक तुम शरीरमें हो तबतक तुम्हें उससे अवश्य लाभ उठाना चाहिये, समय नष्ट नहीं करना चाहिये, ऐसा नहीं कहना चाहिये, 'पीछे देखा जायगा, पीछे देखा जायगा।' तुरत-फुरत यह काम करना ही कहीं अधिक अच्छा है। जो वर्ष तुम उन्नति किये बिना व्यतीत करते हो वे वर्ष बेकार चले जाते हैं, उनके लिये पीछे तुम सिर्फ पश्चाताप ही कर सकते हो।

*   *

यहां इस पृथ्वीपर प्रत्येक मनुष्यके अंदर, वह चाहे कोई भी क्यों न हो और चाहे जो कुछ भी क्यों न हो, एक चैत्य पुरुष होता है, पर होता है विकासकी विभिन्न अवस्थाओंमें। परंतु शरीरधारी व्यक्तिमें अनेक दूसरी चीजें भी होती हैं, जैसे, चेतनाकी स्थितियां और आकार। पृथ्वीपर उसका कार्य है इन सब चीजोंको रूपांतरित करना जो मानों उसे रूपांतरका कार्य करनेके लिये दिये हुए विश्वके अंग हों। और, यदि अपने निजी व्यक्तित्वसे परे उसे कोई विशालतर कार्य भी करना हो तो भी वह उसे तबतक नहीं कर सकता जबतक कि वह अपने व्यक्तिगत कार्यको सबसे पहले नहीं कर लेता। तुम अपनेंसे बाहरके जगत्को तबतक नहीं बदल सकते जबतक तुम अपने निजी स्वरूपमें परिवर्तन लाना आरंभ नहीं करते। यह सबसे पहली और अनिवार्य शर्त्त है और यह, चाहे कोई युवक हो या वृद्ध, छोटा हो या बड़ा, सबके लिये सत्य है। बस, इसी कामके लिये चैत्य पुरुषको यह जीवन प्रदान किया गया है: उन्नति करनेका सुअवसर बस मनुष्यको ही प्राप्त है। पार्थिव जीवनकी अवधि प्रगति करनेकी अवधि है। पार्थिव जीवनसे परे कोई प्रगति नहीं होती। केवल पार्थिव जीवनमें ही प्रगति करनेकी संभावना तथा साधन मौजूद हैं। अतएव मनुष्यको अपनी ही प्रगतिसे आरंभ करना चाहिये। जब अपने अंदर यह कार्य हो जायगा तब उसके बाद ही वह अन्यत्र आरंभ हो सकता है। पर सबसे पहले अपने घरमें काम करना होगा।

जब तुम कायर होते हो तभी तुम अपनी हत्या करने जाते हो। चैत्य पुरुष कोई निश्चित उद्देश्य लेकर किन्हीं विशेष अनुभवोंको एकत्र करनेके लिये, कुछ सीखनेके लिये, प्रगति करनेके लिये आता है। यदि इस कामके होनेंसे पहले तुम चले जाओ तो तुम्हें वापस आना होगा और इसे फिर करना पड़ेगा, पर करना पड़ेगा पहलेसे भी बहुत अधिक कठिन परिस्थितियोंमें। एक जीवनमें तुम जो कुछ टाल दोगे उसे तुम कहीं अधिक कठिन रूपमें फिरसे प्रकट होते हुए देखोगे। बहुत दूर न जाकर, उदाहरणके रूपमें, तुम अपने जीवनकी इस

मामूली कठिनाईको, जो परीक्षा तुम्हें पास करनी है उसीको, ले लो। अगर तुम इसे पास न करो, अगर तुम इससे पीठ फेर लो, तो तुम्हें इसे दूसरी वार पास करना ही होगा और उस वार वह अधिक कठिन हो जायगी।

मनुष्य कितने अज्ञानी हैं! वे समझते हैं कि जीवन भी है और मृत्यु भी, जीवन कष्टोंका एक ढेर है, मृत्यु शांति देती है। परंतु बात बिलकुल ही ऐसी नहीं है। सामान्यतया जब कोई अस्वाभाविक ढंगसे जीवनसे बाहर चला जाता है, किसी अज्ञानपूर्ण और अंधकारमय आवेगसे अभिभूत होकर चला जाता है तब वह सीधे प्राणमय लोकमें प्रवेश करता है जो सब प्रकारके ऐसे आवेगों तथा अज्ञानपूर्ण गति-विधियोंसे बना हुआ है। जिस कठिनाईसे वे बचना चाहते हैं वह फिर उनके सामने उपस्थित हो जाती है, पर अब उनके पास वह संरक्षण नहीं होता जो शरीर उन्हें प्रदान करता है। यदि तुम्हें कभी कोई दुःस्वप्न आया हो अर्थात् तुमने कभी प्राणमय लोकमें साहसपूर्वक विचरण किया हो तो तुम्हें पता होगा कि उसमेंसे निकल आनेके लिये तुम जग जाते हो, दूसरे शब्दोंमें, तुम अपने शरीरमें वापस भाग आते हो। पर जब तुम जान-बूझकर अपना शरीर नष्ट कर देते हो तब तुम अपनी सुरक्षाका कवच खो देते हो। उस अवस्थामें तुम्हें निरंतर दुःस्वप्नमें रहना होगा। यह बहुत सुखदायी अवस्था नहीं है।

दुःस्वप्नसे बचनेके लिये तुम्हें अपनी चैत्य चेतनामें निवास करना होगा; क्योंकि, जब तुम उस चेतनामें रहते हो तब कोई चीज तुम्हें तकलीफ नहीं देती और न तुम्हें दुश्चिंता प्रदान करती है। जब तुम अज्ञानकी क्रियामें संलग्न रहते हो केवल तभी तुममें खतरेका सामना करनेके लिये न तो साहस होता है न बल।

कायरता आती कहांसे है?

अज्ञानसे आती है। अज्ञान ही सभी बुराइयोंका कारण है।

परंतु मेरा ख्याल है कि जब कोई तामसिक होता है, अर्थात् प्रयास करनेसे डरता है तब वह कायर बन जाता है।

भोजन

मैं समझती हूं कि आदिम मनुष्य पशुओंके बहुत समीप था। वह बुद्धिकी अपेक्षा सहज-प्रेरणाके द्वारा अधिक जीवन यापन करता था। वह बिना किसी निश्चित नियमके जब भूखा होता था तभी खाता था। हो सकता है कि उसकी अपनी रुचि और पसंद भी हो, पर इस विषयमें हम अधिक कुछ नहीं जानते; परंतु यह हम जानते हैं कि वह बहुत अधिक शारीरिक जीवन यापन करता था और आज-कलकी तरह उसका मानसिक अथवा प्राणिक जीवन बहुत कम था।

मूलतः, बहुत कुछ पशुकी भांति ही, मनुष्य भी अपने स्वभावमें अत्यंत भौतिक था अर्थात् शरीर और उसकी आवश्यकताओंके अंदर ही उसकी चेतना आबद्ध थी; फिर अनेक शताब्दियों या सहस्राब्दि-योंकी अपनी क्रमोन्नतिके द्वारा वह अधिकाधिक मानसिक, अधिकाधिक प्राणिक बना और जैसे-जैसे वह अधिकाधिक मानसिक और अधिका-धिक प्राणिक बनता गया वैसे-वैसे उसके सुसंस्कृत होनेकी संभावना भी उत्पन्न होने लगी, उसमें बुद्धि बढ़ने लगी, पर साथ ही विच्युति और विकृतिकी संभावना भी पैदा हो गयी। यह एक बात है कि हम अपनी इंद्रियोंको इस प्रकार शिक्षित करें कि उनमें प्रत्येक प्रकार-का उत्कर्ष आ जाय, उनका विकास हो, उनमें ज्ञान, मूल्यांकनकी शक्ति, सुरुचि आदि उत्पन्न हो, अर्थात् चेतनामें प्रगति हो; पर यह एकदम अलग ही बात है कि हम अपनी इंद्रियके विषयके प्रति आसक्त हो जायं, लोभ-लालसाका पोषण करें, महा पेटू बन जायं।

तुम रस (स्वाद) का बहुत विशद् अध्ययन कर सकते हो, उदा-हरणार्थ, तुम विभिन्न वस्तुओंके विभिन्न स्वादोंका, स्वादसे संबंधित भावनाओं या धारणाओंका विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर सकते हो, जिसका

अर्थ शायद प्राणकी उन्नति नहीं है बल्कि इसका अर्थ है कम-से-कम इस विशेष इंद्रियका विकास। यह चीज है तो अनुमोदनीय पर इसमें और लोभके वश खानेमें, सदा-सर्वदा भोजनकी ही बात सोचते रहनेमें, आवश्यकताके वश नहीं बल्कि भोजनकी वासना और पेटूपनके कारण खानेमें जमीन-आसमानका अंतर है।

सच पूछा जाय तो जो लोग अपने स्वादको विकसित करनेकी चेष्टा करते हैं उनमेंसे बहुत कम लोग ही भोजनके प्रति अत्यधिक आसक्त होते हैं। वे खानेके लिये नहीं, बल्कि अपनी इंद्रियोंको विकसित और परिमार्जित करनेके लिये अपने स्वादको उन्नत करनेका अभ्यास करते हैं। इसी तरह एक कलाकार, जैसे चित्रकार, अपनी आंखोंको शिक्षित करता है जिसमें कि वह यह जान सके कि भौतिक प्रकृतिमें पाये जानेवाले रूप और रंगके, रेखा और रेखा-चित्रके, रचना और सामंजस्यके सौंदर्यका मूल्यांकन कैसे किया जाता है। उसे महज कामना या भूख ही परिचालित नहीं करती, बल्कि दर्शनेन्द्रियका रस, संस्कार और विकास, सौंदर्यका मूल्यांकन ही होता है उसका मुख्य कार्य। साधारणतया जो कलाकार सच्चे कलाकार होते हैं, जो अपनी कलाको प्यार करते और उसे अपने जीवनमें उतारते हैं, जो सौंदर्यकी खोज करते हैं, उनमें बहुत अधिक कामनाएं नहीं होतीं। वे अपने रसात्मक बोधमें निवास करते हैं, अपनी इंद्रियोंमें वास करते हैं जो सौंदर्यका भोग और सृजन करनेकी ओर मुड़ी होती हैं। वे ऐसे लोग नहीं होते जो अपने प्राणगत प्रवेगों और शारीरिक कामनाओंके द्वारा जीवन यापन करते हैं।

साधारण तौरपर, अपनी भद्दी सहजप्रेरणा और कामना और आवेगकी क्रियाओंको सुधारनेका उपाय है इंद्रियोंको सुशिक्षित, सुसंस्कृत और परिमार्जित करना। उन्हें नष्ट कर डालना उन्हें सुधारना नहीं है। बल्कि उन्हें उन्नत करना चाहिये, बौद्धिक रूपमें ढालना और सुंदर रूप प्रदान करना चाहिये। यही उन्हें सुधारनेका सबसे अधिक अचूक उपाय है। चेतनाकी प्रगति और विकासकी दृष्टिसे उन्हें इस

प्रकार अधिक-से-अधिक विकसित करना चाहिये जिसमें कि मनुष्य सामंजस्य-बोध और यथार्थ अवलोकन-शक्ति प्राप्त कर सके। मानव-सत्ताकी संस्कृति और शिक्षाका यह भी एक अंग है। मनुष्य अपनी बुद्धिको इसी भांति उन्नत करते हैं। वे पढ़ते हैं, सोचते हैं, तुलना करते और अंतर समझते हैं, वे इस तरह एक प्रकारका अध्ययन करते हैं। इससे उनका मन विस्तारित होता है, वह उन लोगोंके मनकी अपेक्षा अधिक विशाल और अधिक व्यापक हो जाता है जो मानसिक शिक्षाके विना जीवन यापन करते हैं, जिनमें महज थोड़ेसे विचार होते हैं और वे भी शायद एक-दूसरेसे विरोधी। वैसे लोग पूर्ण रूपसे उन्हीं विचारोंके द्वारा चालित होते हैं, क्योंकि उनके पास दूसरे विचार होते ही नहीं; वे समझते हैं कि केवल ये ही विचार ऐसे हैं जिनके द्वारा उन्हें परिचालित होना चाहिये। ऐसे मन अत्यंत संकीर्ण और सीमित होते हैं। दूसरी ओर, जिन लोगोंने अपनी बुद्धिको समुन्नत किया है, जिन्होंने अध्ययन और चिंतन किया है, जिन्होंने अपने मनके क्षेत्रको थोड़ा विस्तृत किया है और इसलिये जो अन्य विचारों और संभवनीय धारणाओंको देख सकते और ध्यानमें रख सकते तथा उनका मिलान कर सकते हैं, उन्हें सहज ही यह मालूम हो जाता है कि किसी सीमित विचार-समूहके प्रति आसक्त होना और बस उसे ही सत्यकी अभिव्यक्ति समझना महज अज्ञान और मूर्खता है।

रुचिका यह प्रशिक्षण, इंद्रियोंका यह शिक्षण चेतनाको उच्चतर विकासके लिये तैयार करनेका एक बहुत अच्छा और आवश्यक साधन है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने स्वभावमें बहुत अनगढ़ और अत्यंत सरल होते हैं। उन्हें एक प्रबल अंतःप्रेरणा प्राप्त हो सकती है और वे एक विशिष्ट आध्यात्मिक उन्नतितक पहुंच सकते हैं, परंतु नींव सदा ही निम्न कोटिकी एक चीज बनी रह जायगी; और जब वे अपनी साधारण चेतनामें वापस आयेंगे तब वे वहां महान् बाधाओंके सम्मुखीन होंगे; क्योंकि वहां असली सत्त्व ही गायब होगा, वहां तो प्राणगत

और शारीर चेतनामें वे तत्त्व ही पर्याप्त मात्रामें नहीं हैं जो निम्न आधारको उच्चतर शक्तिके अवतरणको धारण करनेकी क्षमता प्रदान कर सकें।

उपवास भला किस तरह ग्रहणशीलताकी अवस्था ले आता है?

साधारणतया प्राणपुरुष वहुत अधिक शरीरमें केंद्रीभूत होता है। और जब शरीर अच्छी तरह भोजन पाता है तब वह भोजनके द्वारा अपनी शक्ति-सामर्थ्य प्राप्त करता है — यह जीवनकी वर्तमान अवस्थाओंमें शक्तिको आत्मसात् करनेका एक तरीका है, प्रायः एकमात्र तरीका है, कम-से-कम अधिक महत्त्वपूर्ण तरीका है, परंतु है यह तामसिक।

यदि तुम इस विषयपर विचार करो तो तुम सहज ही यह स्वीकार करोगे कि जिस शक्तिको हम इस तरह अपने अंदर लेते हैं वह वही प्राण-शक्ति है जो पौदों या पशुओंमें होती है और युक्तिकी दृष्टिसे देखें तो यह उस शक्तिसे निम्नतर कोटिकी होती है जो कि मनुष्यकी होनी चाहिये, क्योंकि वह तो योनियोंकी परंपरामें एक उच्चतर स्तरका प्राणी माना जाता है। अतएव अचेतनताकी एक वहुत बड़ी मात्राको चूसे विना कुछ खाना असंभव है। अनिवार्यतः यह चीज तुम्हें भारी और घनीभूत बना देती है। और यदि तुम्हें अधिक खानेका अभ्यास हो तो तुम्हारी चेतनाका अधिक भाग जो कुछ तुम खाते हो उसे पचाने और आत्मसात् करनेमें ही संलग्न रहता है। अतएव यदि तुम भोजन न करो तो यह बात तुम्हें इस अचेतनतासे मुक्त रखती है जिसे कि अब तुम्हें अपने अंदर आत्मसात् करने और रूपांतरित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं; यह चीज तुम्हारे अंदरकी शक्तिको स्वतंत्र कर देती है। फिर, चूंकि खर्च की हुई शक्तिको पूरा करनेकी सहजवृत्ति सत्तामें मौजूद है, इसलिये उसे यदि तुम भोजनसे अर्थात् नीचेकी ओरसे, एकत्र नहीं करते तो तुम स्वाभाविक

रूपसे ही उसे अपने चारों ओर खुले रूपमें विद्यमान विश्वगत प्राण-शक्तिसे खींचनेका प्रयास करते हो। और यदि तुम उस शक्तिको आत्मसात् कर सको, सीधा उसे अपने अंदर ले सको तो तुम्हारी शक्तिकी कोई सीमा नहीं रहेगी।

यह शक्ति तुम्हारे पेटकी जैसी नहीं है जो भोजनका एक सीमित परिमाण ही हजम कर सकता है और फिर वह भोजन अपनी शक्तिका एक अंश ही — बहुत थोड़ासा अंश ही — प्रदान कर सकता है। क्योंकि खाने, चबाने और हजम करने आदिमें शक्ति खर्च करनेके बाद उसका कितनासा अंश और प्राप्त करने योग्य बाकी रह जाता है? परंतु दूसरी ओर यदि तुम सहजभावसे — क्योंकि यह एक प्रकारकी सहजवृत्ति है — जगत्में खुले तौरपर प्राप्य और चाहे जितनी मात्रामें प्राप्य विश्वशक्तिसे आहरण करना सीख लो तो तुम उतनी मात्रामें शक्तिको अपने अंदर ले सकोगे और आत्मसात् कर सकोगे जितनी मात्रामें लेने और आत्मसात् करनेकी क्षमता तुममें है। इस प्रकार, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, जब नीचेसे भोजनसे आनेवाला सहारा नहीं मिलता तब शरीर अपने परिपार्श्वसे इच्छित शक्ति पानेकी एक स्वाभाविक चेष्टा करता है। वह शक्ति उसे कभी-कभी प्राप्त होती है, आवश्यकतासे अधिक प्राप्त होती है, यहांतक कि अतिरिक्त रूपमें प्राप्त होती है और उसके कारण तुम एक प्रकारकी तनावकी स्थितिमें आ जाते हो, या शक्तिसे भरपूर हो उठते हो। और यदि तुम्हारा शरीर मजबूत हो और कुछ समयतक भोजनके बिना रह सकता हो तो तुम अपनी समतोलता बनाये रख सकते हो और सभी तरीकोंसे शक्तियोंका उपयोग कर सकते हो — जैसे, आंतरिक उन्नति करनेमें, अधिक सचेतन होनेमें, अपने स्वभावको परिवर्त्तित करने आदिमें व्यवहार कर सकते हो। परंतु तुम्हारे शरीरमें यदि अधिक शक्ति सुरक्षित न हो, वह उपवासके कारण आसानीसे दुर्बल हो जाय, तो फिर आत्मसात् की हुई शक्तियोंकी तीव्रता तथा उन्हें धारण करनेकी शरीरकी क्षमताके बीच एक प्रकारका असामंजस्य

उत्पन्न हो जाता है और वह तुम्हें विपर्यस्त कर देता है। तुम अपना सम-भाव खो बैठते हो, शक्तियोंका संतुलन भंग हो जाता है और कुछ भी घटित हो सकता है। किसी भी दशामें, यदि ऐसी बात घटित हो तो, तुम आत्मसंयमका बहुतसा अंश खो बैठते हो, तुम उत्तेजित हो जाते हो और इस अस्वाभाविक उत्तेजनाको तुम चेतनाकी एक उच्चतर अवस्था समझते हो। परंतु यह तो एक आंतरिक असमताकी अवस्था है, इससे अधिक कुछ नहीं। अन्यथा, उस स्थितिमें तो तुम्हारी इंद्रियां शुद्ध और ग्रहणशील बन जाती हैं। इस तरह जब तुम उपवास करते हो और नीचेसे शक्ति नहीं आहरण करते तब तुम यदि कोई फूल सूंघते हो तो तुम अपने अंदर शक्ति अनुभव करते हो, जो सुगंध तुम सांसके साथ खींचते हो वह भोजन-का काम करती है, वह तुम्हें शक्ति देती है और उपवास किये बिना तुमने इस बातको कभी न जाना होता।

इस उपवासकी स्थितिमें कुछ वृत्तियां बड़ी तेज हो जाती हैं और इसे एक आध्यात्मिक प्रभाव माना जाता है। पर सच पूछा जाय तो आध्यात्मिकताके साथ इसका बहुत थोड़ा-सा ही संबंध है। जो हो, निरंतर भोजनके विषयमें ही सोचते रहने, कैसे भोजन प्राप्त किया जाय और खाया जाय इसी चिंतामें डूबे रहनेके बदले, यदि कोई भोजनके विषयमें ही संलग्न रहनेके बंधनसे मुक्त होनेके लिये, चेतना-की क्रमपरंपरामें थोड़ासा ऊपर उठनेके लिये उपवासका आश्रय ले तो यह एक अच्छी ही बात होगी। अगर तुममें विश्वास हो तो उपवाससे तुमको लाभ ही होगा, यह तुम्हें शुद्ध करेगा, थोड़ा प्रगति करनेमें तुम्हारी सहायता करेगा। इस दृष्टिसे यह ठीक ही है; यह हमारे शरीरको भी कोई हानि नहीं पहुंचायेगा सिवा इसके कि वह थोड़ा पतला हो जाय। परंतु तुम यदि उपवास करो और फिर बार-बार भोजनकी ओर मुड़कर जो भोजन तुमने खाया होता या उपवासके बाद जो भोजन खानेकी संभावना है, उसकी बात सोचो तो, सच मानो, ऐसा उपवास भूरि-भोजनसे भी कहीं बुरा है।

'ब्लू बर्ड' (Blue Bird) नामक पुस्तकके लेखक मैटरलिंकका नाम तुम लोगोंने जरूर सुना होगा; वह बड़े ही स्थूलकाय व्यक्ति थे। उन्हें चूंकि थोड़ासा सौंदर्य-बोध था इसलिये वह मोटे-पनको नापसंद करते थे और उसे कम करनेके लिये या उसे एक सीमाके अंदर बनाये रखनेके लिये नियमपूर्वक सप्ताहमें एक दिन उप-वास किया करते थे। चूंकि वह बुद्धिमान् व्यक्ति थे, वह उस दिन भोजनकी कोई बात नहीं सोचा करते थे, बल्कि वह पढ़ने और लिखनेमें पूर्ण रूपसे संलग्न रहते थे। उपवास उनके लिये उपयोगी सिद्ध हुआ।

तात्पर्य बस यह है: तुम्हें भोजनकी बात बिलकुल नहीं सोचनी चाहिये: तुम्हें अपने जीवनको इतने स्वाभाविक रूपमें संयमित कर लेना चाहिये कि तुम्हें उसके विषयमें सोचना ही न पड़े। निश्चित समयपर भोजन करो, समुचित रूपमें — शांत-स्थिर भावसे, व्यवस्थित रूपमें भोजन करो। बहुत अधिक मत खाओ; क्योंकि उस हालतमें तुम्हें पचानेकी फिक्र करनी होगी और वह एक दुःखदायी बात होगी; वह तुम्हारा समय नष्ट करेगी। बस, जितना आवश्यक हो उतना भोजन करो। तुम्हें समस्त कामना और आकर्षणका, समस्त प्राणगत क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिये। जब तुम केवल इस कारण खाते हो कि शरीरको भोजनकी आवश्यकता है तब शरीरको भोजन-की ठीक आवश्यक मात्रा प्राप्त हो जाते ही बहुत ठीक-ठीक और स्पष्ट रूपमें वह तुम्हें उसकी सूचना दे देता है। जब तुम अपने मनमें कोई धारणा बना रखते हो या अपने प्राणमें वासनाएं पोस रखते हो, उदाहरणार्थ, जब तुम कोई खास चीज खाना अधिक पसंद करते हो तभी तुम आवश्यक परिमाणसे कईगुना अधिक खा जाते हो तथा अपने शरीरपर जुल्म करते हो और उसके स्वाभाविक बोध-को नष्ट कर देते हो।

मांस-भोजन

जब कोई मांस खाता है तब क्या होता है ?

मैं तुम लोगोंको इस विषयकी एक कहानी सुनाऊंगी। स्विडेन-की एक युवती महिलासे मेरा परिचय था जो साधना कर रही थी। सामान्यतया अभ्यास और प्रवृत्तिकी दृष्टिसे वह शाकाहारी थी। एक दिन उसे एक जगह भोजनके लिये निमंत्रित किया गया और उसे मुर्गीका मांस खानेको दिया गया। वह उस विषयमें कोई शोर-गुल नहीं मचाना चाहती थी, इसलिये उसने अपने सामने परोसा हुआ मांस खा लिया। अब रातको, निश्चय ही स्वप्नमें, उसने देखा कि वह एक टोकरीमें है और उसका सिर दो छड़ियोंके बीच दबाकर इधर-उधर हिलाया जा रहा है। उससे उसे बड़ी बेचैनी हुई, बड़ा दुःख हुआ। और फिर उसने देखा कि उसका सिर नीचे है और पांव ऊपर आसमानमें हैं तथा उसे हिलाया जा रहा है, लगातार हिलाया जा रहा है। वह पूर्ण रूपसे दुःखी हो गयी। फिर अचा-नक उसने अनुभव किया कि उसकी खाल उतारी जा रही है। कितना दुःखपूर्ण था यह सब ! और फिर कोई एक छुरी लेकर आया और उसने उसका सिर काट दिया। बस तुरत उसकी नींद टूट गयी। उसने मुझे यह कहानी सुनायी और कहा कि मैंने अपने जीवनमें कभी इतना भयानक दुःस्वप्न नहीं देखा था। उसने सोनेसे पहले इस तरहकी किसी बातका चिंतन नहीं किया था; महज उस गरीब मुर्गी-की चेतना उसके अंदर घुस गयी होगी और उसने उस पक्षीके उन सब दुःखोंका अनुभव स्वप्नमें किया जब कि उसे बाजार ले जाया जा रहा था, उसके पंख उखाड़े गये थे और अंतमें उसका सिर अलग कर दिया गया था। बस, यही होता है। दूसरे शब्दोंमें, जो भोजन तुम ग्रहण करते हो उसके साथ-साथ तुम कम या अधिक मात्रामें उस पशुकी चेतना भी आत्मसात् करते हो जिसका मांस तुम

भक्षण करते हो। निस्संदेह, इसमें कोई बड़ी गंभीर बात नहीं है, पर यह सर्वदा बहुत सुखदायी भी नहीं होती। फिर भी यह स्पष्ट है कि यह पशुत्वकी ओर जानेकी अपेक्षा मनुष्यत्वकी ओर जानेमें बहुत अधिक सहायता नहीं करती। हम जानते हैं कि आदिम मनुष्य पशु-स्तरके बहुत अधिक निकट थे और वे कच्चा मांस खाया करते थे; उससे उन्हें स्पष्ट ही पकाये मांसकी अपेक्षा अधिक बल और शक्ति-सामर्थ्य प्राप्त होता था। वे एक पशुको मारते थे, उसे टुकड़े-टुकड़े काटते थे और फिर मांस चबा जाते थे। इसी कारण उनका शरीर लंबा-चौड़ा और शक्तिशाली होता था। और संभवतः यही कारण था कि उनकी अंतड़ियोंमें 'अपेण्डिक्स' (Appendix) नामक एक उपांग होता था जो आजकलकी अपेक्षा बहुत बड़े आकारका होता था; क्योंकि उसे कच्चा मांस पचाना पड़ता था। परंतु पीछे चूंकि मनुष्योंने अपना भोजन पकाना आरंभ किया और इस तरह उसे उन्होंने अधिक स्वादिष्ट अनुभव किया, इसलिये वह उपांग भी धीरे-धीरे आकारमें छोटा होता गया और अंतमें एकदम बेकार रह गया; अब उसका कोई उपयोग नहीं है, यह अब एक बोझ भर है और प्रायः बीमारीका कारण बनता है। इसका मतलब है कि भोजनमें परि-वर्तन लानेका समय आ गया है और हमें कम पाशविक चीजें लेनी चाहियें। परंतु यह प्रत्येक व्यक्तिकी चेतनाकी अवस्थापर निर्भर करता है। जो साधारण मनुष्य साधारण जीवन बिताता है, साधा-रण अभीप्साएं रखता है, अपनी जीविका कमाने, अच्छा स्वास्थ्य बनाये रखने और अपने परिवारका पालन करनेके सिवा और कुछ नहीं सोचता, उसे विशुद्ध स्वास्थ्यसंबंधी कारणोंके अतिरिक्त अन्य दृष्टिसे देखने और चुनाव करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। वह मांस या और कोई चीज खा सकता है जो उसे सहायक और उप-योगी प्रतीत हो, उसे लाभ पहुंचानेवाली मालूम हो।

परंतु तुम यदि साधारण जीवनसे हटकर किसी उच्चतर जीवनमें आना चाहो तो प्रश्न थोड़ा गंभीर बन जाता है। और फिर, एक

उच्चतर जीवनके लिये तुम और भी अधिक ऊपर उठना चाहो और रूपांतरित्त होनेके लिये अपनेको तैयार करना चाहो तब तो यह समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाती है। क्योंकि कुछ खाद्य ऐसे होते हैं जो शरीरको अधिक सूक्ष्म और उन्नत होनेमें सहायता करते हैं तथा दूसरे उसे पशुत्वके स्तरपर बांधे रखते हैं। परंतु केवल तभी (उच्चतर जीवन लेनेकी इच्छा होनेपर ही) यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठता है, उससे पहले नहीं। इस अवस्थातक पहुंचनेके पहले तुम्हें बहुतेरी दूसरी चीजें करनी होंगी। निश्चय ही यह अधिक अच्छा है कि शरीरको शुद्ध करनेकी बात सोचनेसे पहले तुम अपने मनको शुद्ध करो, अपने प्राणको शुद्ध करो। क्योंकि, यदि तुम सब प्रकारकी संभवनीय सावधानियोंको बरतो और शरीरकी दृष्टिसे हर तरहकी चौकसी रखते हुए जीवन यापन करो तथा केवल वे ही चीजें खाओ जो शरीरको शुद्ध करनेमें सहायक हों, पर मन और प्राण कामना-वासना, निश्चेतना, अंधकार एवं अन्यान्य सभी चीजोंसे भरे हुए रहें तो तुम्हारी सावधानी और चौकसीका कोई लाभ नहीं होगा। तुम्हारा शरीर शायद कमजोर हो जायगा, तुम्हारे आंतरिक जीवनके साथ उसका सामंजस्य भंग हो जायगा और एक दिन वह मृत्युको प्राप्त हो जायगा।

तुम्हें अंदरसे आरंभ करना होगा। मैंने सैकड़ों बार कहा है कि तुम्हें ऊपरसे आरंभ करना होगा। तुम्हें सबसे पहले उच्चतर क्षेत्रों-को पवित्र बनाना होगा और उसके बाद निम्नतर क्षेत्रोंको। इससे मेरा मतलब यह नहीं है कि तुम्हें सब प्रकारके कुसंयमका दास बन जाना चाहिये और शरीरकी अधोगति करनी चाहिये। मेरे कहनेका यह अर्थ कदापि नहीं है। मैं तुम्हें यह सलाह नहीं देती कि तुम अपनी कामनाओंको संयमित मत करो। मेरा मतलब बस यह है: जबतक तुम अपने मन और अपने प्राणमें भी देवदूत नहीं बन जाते तबतक शरीरमें वैसा बननेकी कोशिश मत करो। क्योंकि ऐसा करनेसे एक प्रकारका विच्छेद, समतोलताका अभाव उन्पन्न हो जायगा।

और मैंने सर्वदा ही कहा है कि समतोलताको बनाये रखनेके लिये सभी अंगोंको एक साथ उन्नति करनी चाहिये। अपने एक भागमें ज्योति उतारनेकी चेष्टा करते हुए तुम्हें अन्य भागको अंधकारमें नहीं छोड़ देना चाहिये। तुम्हें कहीं किसी कोनेको अंधकारपूर्ण नहीं रहने देना चाहिये।

श्रद्धा और प्रगति

जब कोई आदमी प्रयास करता है और थोड़ी प्रगति करता है तब वह संतुष्ट हो जाता है और उसके लिये वह फूला नहीं समाता। इससे सब चीज नष्ट हो जाती हैं। इस दोषसे कैसे छुटकारा पाया जाय?

इसका कारण यह है कि मनुष्य कोई काम करते समय स्वयं अपनी ओर ताकता रहता है। यह एक आदत है कि मनुष्य जब कोई काम करता है या कोई जीवन यापन करता है तो वह निरंतर अपने-आपको देखता रहता है। निश्चय ही तुम्हें अपने-आपको देखना होगा; पर उससे भी अधिक तुम्हें सच्चा और स्वाभाविक बनना होगा — जो कुछ तुम करो उसमें स्वाभाविक बनना होगा अर्थात् सहजभावसे काम होने देना होगा और सर्वदा अपनी ही ओर मुड़कर अपने विषयमें विचार या आलोचना — कभी-कभी कठोर आलोचना-तक — करनेसे विरत रहना होगा। अपना ही विचार करना और अपने विषयमें नुकता-चीनी करते रहना भी उतना ही बुरा होता है जितना कि संतोषके साथ अपनी पीठ ठोकना।

तुम्हें अपनी अभीप्सामें सच्चा होना चाहिये, तुम्हें यह जाननेतक-की आवश्यकता नहीं कि तुम किस बातकी अभीप्सा करते हो : तुम्हें तो स्वयं वह अभीप्सा ही बन जाना चाहिये। जब तुम ऐसा कर पाते हो तब तुम एक असाधारण शक्तिका अनुभव करते हो। ऐसे अनुभवका एक क्षण तुम्हें वर्षों प्रगति करते रहनेके लिये तैयार कर

देता हूँ। जब तुम कोई व्यक्ति नहीं रह जाते, वह अहंकार नहीं रह जाते जो बराबर अपनी ही ओर ताकता रहता है, जब तुम स्वयं वह कर्म बन जाते हो जिसे तुम करते हो — विशेषकर अभीप्साके कार्यमें — तब, मैं कह सकती हूं कि, उससे बेहतर और कोई बात नहीं हो सकती। जब अभीप्सा करनेवाला कोई व्यक्ति नहीं रह जाता तब अभीप्सा घनीभूत होकर वेगके साथ ऊपरकी ओर दौड़ जाती है, साधक बहुत दूरतक चला जा सकता है। अन्यथा साधकमें अहंकार, स्वाभिमान, यहांतक कि आत्मदया, सभी प्रकारकी क्षुद्र क्रियाओंका मिश्रण होता है जो सारा मामला ही चौपट कर देती हैं।

श्रद्धाके अवतरणके लिये क्या शर्तें हैं?

अत्यंत महत्त्वपूर्ण शर्त है भरोसा होना, बालक-जैसा भरोसा होना, ऐसे सच्चे बोधका होना जो यह जानता है कि आवश्यक वस्तुएं आयेंगी और इस विषयमें कोई संदेह नहीं है। जब किसी बच्चेको किसी चीजकी आवश्यकता होती है तब उसे निश्चय होता है कि वह चीज आ रही है। इस तरहका सरल भरोसा या निर्भरता अत्यंत महत्त्वपूर्ण शर्त है।

हमें अभीप्सा करनी चाहिये, यह अनिवार्य है; परंतु कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अभीप्सा तो करते हैं पर उनके अंदर श्रद्धा और अश्रद्धामें, विश्वास और अविश्वासमें, विजयके विषयमें सुनिश्चित आशा या संहारके आनेके लिये ठीक प्रतीक्षा करती हुई निराशामें इतना अधिक संघर्ष चला करता है। यदि तुम्हारी सत्ताकी ऐसी ही स्थिति हो तो तुम अभीप्सा कर सकते हो पर उसका फल कुछ भी नहीं होगा। तुम कहते हो, "मैं अभीप्सा तो करता हूं पर पाता कुछ भी नहीं हूं।" इसका कारण यह है कि तुम विश्वासकी कमीके द्वारा निरंतर अपनी अभीप्साका नाश कर रहे हो। परंतु तुममें यदि वास्तवमें विश्वास हो तो फिर बातें भिन्न प्रकारकी हो जायंगी। उदाहरणार्थ, जब

वच्चोंको स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है, जब वयस्क लोगोंके द्वारा उनमें कोई विकृति नहीं उत्पन्न की जाती तब उनमें एक प्रकारका बड़ा ही दृढ़ विश्वास होता है कि सब कुछ ठीक ही होगा। जब उन्हें कोई दुर्घटना हो जाती है तब वे कभी यह नहीं सोचते कि वह कोई बड़ी संगीन बात होगी। उन्हें यह सहज विश्वास होता है कि यह बहुत जल्द ठीक हो जायगा और सब कुछ शीघ्र ठीक हो जानेमें वह सहायता करता है। जब तुम शक्तिके लिये अभीप्सा करते हो, भगवान्‌की सहायताके लिये प्रार्थना करते हो तब तुम यदि इस अचल निश्चयताके साथ इसे करो कि वह जरूर आयेगी तो उस हालतमें उसके लिये न आना असंभव हो जायगा। सच पूछा जाय तो स्वयं ऐसी निश्चयता ही एक आंतरिक उद्‌घाटन है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो स्वभावतः और सहजभावसे ही इस स्थितिमें बने रहते हैं। जब कभी या जहां कहीं ऊपरसे कोई चीज ग्रहण करनेका कोई सुअवसर उपस्थित होता है तभी या वहीं वे उपस्थित होते हैं। और कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अवतरणका अवसर आनेपर सर्वदा ही उस स्थानपर नहीं पहुंच पाते; वे ठीक उसी मुहूर्त्तमें अपनेको बंद कर लेते हैं। परंतु जिनमें वालकों जैसी निर्भरता है, वे कभी कोई मौका नहीं खोते। यह एक बहुत विचित्रसी बात मालूम होती है। ऊपरसे देखनेमें संभव है कि दोनों प्रकारके लोगोंमें बहुत अधिक अंतर न दिखायी दे। दोनों प्रकारके लोगोंमें एक जैसी सदिच्छा, एक ही अभीप्सा, अपनी भलाई करनेकी एक जैसी कामना हो सकती है, परंतु जिसमें अपने-आपपर पूरा विश्वास होता है, जो संदेह नहीं करता, जो यह नहीं पूछता कि उसे वह चीज मिलेगी या नहीं, भगवान् उत्तर देंगे या नहीं, — क्योंकि, उसके लिये वह प्रश्न ही नहीं रहता, या मानी हुई और पक्की बात होती है कि "जिस चीजकी मुझे आवश्यकता है वह मुझे अवश्य मिलेगी" —, वह कहता है, "अगर मैं प्रार्थना करता हूं तो मेरी प्रार्थना अवश्य स्वीकृत होगी, अगर मैं कठिनाईमें हूं और मैं सहायता मांगता हूं तो वह सहायता अवश्य आयेगी,

वह केवल आयेगी ही नहीं बल्कि सब कुछ ठीक कर देगी" -- मैं कहती हूं, जिस आदमीमें ऐसी स्वाभाविक, सच्ची और निस्संदिग्ध निर्भरता होती है वह सर्वोत्तम स्थितिको प्राप्त करता है जिसमें सफल अवतरण हो सकता है; उसकी क्रिया उस समय अद्‌भुत होती है।

तुम अपने मानसिक विरोधों तथा संदेहोंके द्वारा सारी बात नष्ट कर देते हो, कठिनाईकी अवस्थामें तुम्हारे अंदर घुसनेवाली इस प्रकार-की भावनाओंके द्वारा नष्ट कर देते हो: "यह असंभव है, मैं कभी इसके अंततक नहीं पहुंच पाऊंगा, यदि अवस्था एकदम बुरी हो जाय, यदि मुझे लुढ़कना पड़े तो, आदि-आदि।" इस तरह तुम अपने तथा जिस शक्तिको ग्रहण करना चाहते हो उसके बीच एक दीवाल खड़ी कर देते हो।

चैत्य पुरुषमें यह विश्वास है, एक अद्‌भुत ढंगसे है, बिना छाया, बिना शंका-संदेह, बिना किसी विरोधके है। और जब यह होता है तब ऐसी कोई प्रार्थना नहीं जिसका उत्तर न आवे, ऐसी कोई अभीप्सा नहीं जो पूरी न हो।

धार्मिक कृत्योंका मूल्य

धार्मिक कृत्यों (जैसे जप आदि) का मूल्य क्या है?

यदि ये चीजें तुम्हें सहायता करती हों तो ये ठीक हैं; यदि न करती हों तो स्वभावतः ही ये किसी मतलबकी नहीं। इनका मूल्य बिल्कुल आपेक्षिक है। इनका मूल्य केवल उतना ही है जितना कि ये तुम्हारे ऊपर प्रभाव डालती हैं अथवा जितनी मात्रामें तुम इनपर विश्वास रखते हो। यदि तुम्हारी एकाग्रतामें ये सहायक हों तो, मेरा कहना है कि, ये स्वागतके योग्य हैं। साधारण चेतना इन चीजोंको एक प्रकारके अंधविश्वासके साथ ग्रहण करती हैं; लोग समझते हैं, "यदि मैं मंदिर जाऊं या सप्ताहमें एक बार चर्च जाऊं, यदि मैं नियमित रूपसे प्रार्थनाएं करूं तो उससे मेरे लिये कोई अच्छी

बात घटित होगी।" यह एक अंधविश्वास है जो सारे संसारमें फैला हुआ है, पर इसका कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं है।

मैं पवित्र स्थानोंमें गयी हूं। मैंने ऐसे देवालय देखे हैं जो फ्रांस, जापान और अन्यत्र बहुत उच्च कोटिके धार्मिक स्थान माने जाते हैं; वे सर्वदा एक ही प्रकारके मंदिर या चर्च नहीं थे और न उनमें एक ही प्रकारके देवता थे, पर उन्होंने जो छाप मेरे मनपर छोड़ी, उनके विषयमें मेरे जो अनुभव थे वे प्रायः सर्वत्र एक-जैसे ही थे, महज मामूली अंतर था। सामान्यतया ऐसे स्थानपर एक प्रकारकी शक्ति केंद्रीभूत रहती है, पर उसका स्वरूप पूर्ण रूपसे श्रद्धालुओंकी श्रद्धापर निर्भर करता है; फिर सचमुचमें वह शक्ति जैसी होती है और जिस रूपमें वह श्रद्धालुओंको दिखायी देती है उन दोनोंमें भी भेद होता है। उदाहरणार्थ, एक अत्यंत प्रसिद्ध तथा अत्यंत मनोहर उपासनालय था जो कलाकी दृष्टिसे एक अत्यंत श्रेष्ठ रचना था। मैंने उसके गर्भगृहमें एक विराट् काला मकड़ा देखा जिसने चारों ओर अपना जाल बिछा रखा था और जो लोगोंकी भक्ति, प्रार्थनाओं आदिसे निकलने-वाली सारी शक्तिको अपने उस जालमें पकड़ लेता और आत्मसात् कर लेता था। यह कोई बहुत सुखदायी दृश्य नहीं था। परंतु जो लोग वहां थे और प्रार्थना करते थे, वे दिव्य संस्पर्शका अनुभव करते थे, वे अपनी प्रार्थनाओंसे सब प्रकारके लाभ प्राप्त करते थे। और फिर भी सत्य वही था जिसे मैंने देखा। लोगोंमें श्रद्धा थी और उनकी श्रद्धा वहांकी खराब चीजको उनके उपयुक्त अच्छी चीजमें पलट देती थी। अब, यदि मैं जाती और उन लोगोंसे कहती : "तुम समझते हो कि तुम भगवान्‌से प्रार्थना करते हो! यह तो केवल एक भयानक जीवंत मकड़ा है जो तुम्हारी शक्तिको चूस रहा है!" तो निश्चय ही मेरे लिये यह बात बहुत परोपकारपूर्ण न होती। परंतु सर्वत्र लगभग ऐसी ही चीज होती है। ऐसे स्थानोंमें कोई-न-कोई प्राण-जगत्‌की शक्ति अधिष्ठान करती है। और प्राण-जगत्‌की सत्ताएं मनुष्यके हृदयोच्छ्‌वासके प्रकंपनोंको भक्षण करती हैं। बहुत थोड़ेसे,

अत्यंत विरले लोग ही ऐसे होते हैं जो मंदिरों, चर्चों और पवित्र स्थानोंमें सच्ची धार्मिक भावनाके साथ जाते हैं, तात्पर्य, जो भगवान्‌से किसी चीजकी प्रार्थना करने या भीख मांगने नहीं जाते, वल्कि अपने-आपको निवेदित करने, कृतज्ञता ज्ञापन करने, अभीप्सा करने, आत्म-समर्पण करने जाते हैं। ऐसे लोग करोड़में एक हों तो वहुत अधिक ही मानना होगा। ऐसे लोग जव वहां होते हैं तव वे ठीक एक मुहूर्त्तके लिये भगवान्‌का कुछ स्पर्श पाते हैं। परंतु अन्य सव लोग महज अंध-विश्वास, अहंकार, स्वार्थके वश जाते हैं और ऐसा वाता-वरण उत्पन्न करते हैं जैसा कि हम पाते हैं तथा जव तुम किसी पवित्र स्थानमें जाते हो तव साधारणतया तुम ऐसे ही वातावरणको अपने श्वासके साथ ग्रहण करते हो; जव तुम वहां एक अच्छी भावना लेकर जाते हो केवल तभी तुम अपने मनमें कहते हो: "कैसा शांतिदायक स्थान है यह!"

यह कहते हुए मुझे दुःख होता है। परंतु बात ऐसी ही है। मैं तुमसे कहती हूं, मैंने जानवूझकर सर्वत्र थोड़ा-बहुत परीक्षण किया है। संभवतः कभी-कभी सुदूर छोटेसे कोनोंमें — उदाहरणार्थ, एक छोटेसे गांवके चर्च-जैसे स्थानमें — ऐसी जगहें मैंने देखी हैं जहां सच्ची शांति और निस्तव्धता तथा कुछ सच्ची अभीप्सा थी। उन्हें छोड़कर, वाकी सभी स्थानोंमें विरोधी प्राणिक शक्तियोंका महज जाल है जो प्रत्येक चीजका व्यवहार अपने भोजनके लिये करती हैं। जहां जितना बड़ा पूजकोंका समुदाय होता है वहां उतना ही बड़ा अशुभ प्राण-देवता होता है। इसके अतिरिक्त, अदृश्य जगतोंमें महज प्राणिक सत्ताएं ही ऐसी होती हैं जो पूजा पाना पसंद करती हैं। क्योंकि, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, उससे उन्हें प्रसन्नता होती है, उनका महत्त्व वढ़ जाता है। जव मनुष्योंकी एक वड़ी सेना उनकी पूजा करती है तव वे अभिमानसे फूल उठती हैं, सुखी होती हैं तथा उनके संतोषकी कोई सीमा नहीं रहती।

परंतु, यदि तुम किसी सच्ची दिव्य सत्ताको लो तो वह उस

चीजको पसंद नहीं करती और न उसे कोई मूल्य देती है। वह पूजा पाना पसंद नहीं करती; पूजासे उसे कोई विशेष आनंद नहीं होता। परंतु जब वह कहींपर कोई सुंदर संबोधिपूर्ण ज्ञान, शुभ भावना, निःस्वार्थपूर्ण क्रिया या आध्यात्मिक उत्साह देखती है तब वह उसे प्रार्थनाओं और पूजाओंसे अनंतगुना अधिक मूल्यवान् समझती है। मैं गंभीरतापूर्वक कहती हूं, यदि तुम एक सच्चे देवताको कुर्सीपर बैठा दो और जबतक तुम उनकी पूजा करते हो तबतक उन्हें वहां बैठे रहनेके लिये बाध्य करो तो वह शायद तुम्हें पूजा तो करने देंगे और उससे अपना मनबहलाव भी कर लेंगे, परंतु निश्चय ही उससे उन्हें कोई आनंद नहीं होगा, एकदम नहीं होगा! वह न तो तुम्हारी पूजासे फूल उठेंगे, न संतुष्ट होंगे और न अपनेको गौरवान्वित ही समझेंगे। इस विचारको तुम्हें अपने मस्तकसे निकाल फेंकना होगा। आध्यात्मिक जगत् और स्थूल जगत्के बीचमें एक पूरा-का-पूरा क्षेत्र है जो प्राण-जगत्की सत्ताओंका क्षेत्र है और यही क्षेत्र ऐसी चीजोंसे भरा हुआ है जिसे वे पसंद करते हैं; क्योंकि वे चीजें उनका खाद्य हैं। जब मनुष्य उन्हें पुकारते हैं, उनसे प्रार्थना करते हैं, उन्हें अपनी पूजा चढ़ाते हैं तब वे प्रसन्न होते हैं और अपनेको महत्त्वपूर्ण समझते हैं। जिस सत्ताके सबसे अधिक संख्यामें पूजा करनेवाले होते हैं वह सबसे अधिक संतुष्ट होती है, सबसे अधिक अपनेको गौरवान्वित समझती है, सबसे अधिक फूल उठती है। तुम भला कैसे कल्पना कर सकते हो कि एक सच्चा देवता, यहांतक कि अधिमानस लोकका कोई देवता —यद्यपि इस क्षेत्रके देवता कुछ अंशमें मानवीय दुर्बलताओंसे ग्रस्त हैं—, जिस देवतामें उच्चतर चेतना है वह, इन चीजोंमें कोई सुख पा सकता है? मैं दुहराती हूं कि यथार्थ करुणा, बुद्धिमत्ता, निःस्वार्थता या सुंदर समझदारी या सरल अभीप्साका कोई कार्य किसी तुच्छ धार्मिक क्रियासे कहीं उच्चतर और अधिक मूल्यवान् चीज है। उसके साथ इसकी तुलना ही नहीं हो सकती। तुम धार्मिक कृत्योंकी बात करते हो। एक सत्ता है जिसे काली कहते हैं; बहुतसी, अनेक

प्रकारकी कालियां हैं जो मंदिरों और घरोंमें प्रतिष्ठित हैं। प्रायः उनमेंसे सब-की-सब प्राण-जगत्की सत्ताएं और शक्तियां हैं, कुछ तो कुरूप और भयंकर भी हैं। मैं ऐसे लोगोंको जानती हूं जिन्हें एक कालीका — अपनी पारिवारिक कालीका — इतना अधिक भय था कि वे किसी भी तरह उसे नाराज करनेकी, उसे नाराज करनेवाले किसी छोटे-से-छोटे अपराधकी बात मनमें उठनेसे कांपने लगते थे; क्योंकि उसका अर्थ होगा कालीका दंड। मैं इन सत्ताओंको जानती हूं, अच्छी तरह जानती हूं : वे प्राणमय लोककी सत्ताएं हैं, वे प्राणमय रचनाएं हैं — उनके रूप मानव-मनके दिये हुए रूप हैं और वे क्या रूप हैं! यह सोचकर दिल दहल जाता है कि मनुष्य ऐसी भयावनी और दानवीय चीजोंकी पूजा करते हैं!

इस दृष्टिसे यह अच्छा है कि कुछ समयके लिये मनुष्यजाति धार्मिक वातावरणसे बाहर निकल आये; क्योंकि वह वातावरण ऐसे भय तथा अंधविश्वासपूर्ण अधीनतासे भरा हुआ है जिससे विरोधी शक्तियोंने इतने भयानक रूपमें लाभ उठाया है। इस दृष्टिसे अस्वीकृति, नास्तिकवाद और प्रत्यक्षवादका युग एकांत अज्ञानसे मुक्ति पानेके लिये मनुष्यके लिये बिलकुल अनिवार्य है। जब तुम प्राणमय लोककी अशुभ शक्तियोंकी इस, इस हीन, अधीनतासे बाहर निकल आओगे केवल तभी तुम यथार्थ आध्यात्मिक ऊंचाइयोंपर चढ़ सकोगे और तभी वहां दिव्य सत्य, दिव्य चेतना तथा दिव्य शक्तिकी कार्य करनेवाली शक्तियोंके सहकारी और समुचित यंत्र बन सकोगे। ऊपर उठनेके लिये तुम्हें निम्नतर स्तरोंके अंधविश्वासोंको बहुत पीछे छोड़ देना होगा।

प्रार्थना और अभीप्सा

(१)

जो कुछ तुम करते हो उसका एक अनिवार्य और स्वतंत्र परिणाम होता है। यह एक आवश्यक विश्वास है जो विकास-प्रक्रियाके

एक विशेष मुहूर्त्तमें दिया गया है। इसका उद्देश्य है मनुष्योंको पूर्ण-रूपेण अभिमानी होनेसे या एकदम अचेतन रूपमें वे जो कुछ करते हैं उसे करनेसे रोकना। बहुतेरे लोग, मैं समझती हूं कि अधिकांश लोग ऐसे ही होते हैं। वे अपनी सहज-प्रेरणाओंका अनुसरण करते हैं और यह नहीं पूछते कि उनके कर्मोंके स्वयं उनके लिये तथा दूसरोंके लिये क्या परिणाम होंगे। ऐसी स्थितिमें यह अच्छा ही है कि किसीने उनसे कठोर स्वरमें कहा: "सावधान, उसके ऐसे परिणाम होते हैं जो बहुत दिनोंतक, बहुत दीर्घकालतक बने रहते हैं।" ऐसे धर्म हैं जो तुम्हें यह चेतावनी देनेके लिये उठे: "तुम दूसरे जीवनमें इसका मूल्य चुकाओगे", "अगर तुम यह पाप करोगे तो तुम चिर-कालके लिये नरकमें चले जाओगे" इत्यादि-इत्यादि। परंतु यह एक अत्यंत अद्‌भुत कहानी है जिसका आविष्कार मनुष्यने किया है; फिर भी, लोग भय करते हैं और किसी तरह रुक जाते हैं। अपनी सहज-प्रेरणाओंके पीछे उनके दौड़नेसे पहले यह उन्हें विचार करनेके लिये एक क्षणका समय प्रदान करता है, अवश्य ही बराबर नहीं, कभी-कभी विचार पीछे आता है, थोड़ी देरसे आता है।

सभी धर्मोंके अंदर जो लोग यह घोषणा करते हैं कि कर्मके फल कठोर होते हैं और जिन्होंने ये चरम नियम बनाये, उन्होंने, मैं समझती हूं, अपने-आपको प्रकृति-माताके स्थानमें बैठानेके लिये, साधारण मनुष्योंको चलानेवाली डोरियोंको खींचनेके लिये ही ऐसा किया होगा। क्योंकि ये नियम मनकी रचनाएं होते हैं, संभवतः कम या अधिक सच्चे दिलसे तो बनाये हुए होते हैं, पर वस्तुओंको टुकड़े-टुकड़े काट देते हैं और तुमसे कहते हैं: "यह करो, वह करो; यह ऐसा नहीं है, यह वैसा है।" लोग विभ्रांत, भयाक्रांत हो जाते हैं, वे समझ ही नहीं पाते कि आखिरकार उन्हें करना क्या चाहिये।

लोगोंको बस एक ऊपरके तल्लेमें चला जाना चाहिये और जो ऊपर उठें उनके हाथोंमें दरवाजेकी चाभी दे देनी चाहिये। वह चाभी है (१) पर्याप्त रूपमें सच्ची अभीप्सा, अथवा (२) पर्याप्त

रूपमें तीव्र प्रार्थना। मैंने 'अथवा' कहा है, पर बात शायद ऐसी न हो; कुछ लोग एकको पसंद करते हैं और कुछ लोग दूसरेको अच्छा समझते हैं। परंतु दोनोंमें ही जादूकी शक्ति है और हमें उसका व्यवहार जानना चाहिये।

कुछ लोग प्रार्थनाओंको नापसंद करते हैं। यदि वे अपने हृदयकी गहराईमें प्रवेश करते तो वे देखते कि यह उनका महज गर्व है, बल्कि उससे भी कहीं बुरा, दंभ है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें कोई अभीप्सा नहीं होती, वे चेष्टा करते हैं, पर वे असफल रहते हैं। वे नहीं कर पाते, क्योंकि उनमें संकल्पकी ज्योतिशिखा नहीं होती और न उनमें विनम्रताकी ही लौ होती है। दोनोंकी आवश्यकता होती है। अपने कर्मको बदल देनेके लिये बड़ी विनम्रता और महान् संकल्प-शक्तिकी आवश्यकता होती है।

भागवत कृपा पूर्ण रूपसे कर्मका खंडन कर देती है। भागवत कृपा कर्मको उसी तरह गला देती है जैसे सूर्य मक्खनको। अगर तुम्हारे अंदर पर्याप्त सच्ची अभीप्सा हो अथवा पर्याप्त तीव्र प्रार्थना हो तो तुम अपने अंदर ऐसी किसी चीजको उतार सकते हो जो सब कुछ परिवर्तित कर देगी।

(२)

मैं तुम्हें चेतनाके विभिन्न स्तरोंकी बात पहले बतला चुकी हूं। विशुद्ध भौतिक स्तरपर (प्राण-जगत्से इसे एकदम अलग कर देनेपर) सब कुछ पूर्णतः यांत्रिक होता है: यहां चीजें कार्य-कारणकी कठोर परंपरामें एक-दूसरेका अनुसरण करती हैं। यदि तुम किसी चीजका कारण जानना चाहो तो तुम्हें कारणका भी कारण खोजना होगा; और यदि तुम किसी चीजका परिणाम जानना चाहो तो तुम्हें परि-णामका भी परिणाम खोजना होगा। कारण और कार्य (परिणाम) एक-दूसरेके साथ गुंथकर एक बंद वृत्तका निर्माण करते हैं। केवल,

इस विशुद्ध भौतिक लोकमें प्राणमय लोक हस्तक्षेप कर सकता है और करता ही है, जैसे उद्‌भिजके राज्यमें।

प्राणमय जगत्‌में एकदम इससे भिन्न ही नियति है, जो उस लोक-की अपनी निजी है। और जब तुम प्राणमय लोककी नियतिको भौतिक नियतिमें उतार लाते हो तब उससे एक मिश्रण तैयार होता है जो प्रत्येक चीजको बदल देता है।

प्राणमय जगत्‌के ऊपर मनोमय जगत् है। मनोमय लोककी भी अपनी निजी नियति है जिसमें सभी मानसिक चीजें एक कठोर क्रम-परंपरामें एक साथ बंधी हुई हैं।

इनमेंसे प्रत्येक लोककी नियति ऐसी है जिसे हम आड़ी (या समतल) नियति कह सकते हैं।

परंतु, मेरा कहना है कि, एक खड़ी (लंबवत्) क्रिया भी हो सकती है। कहनेका तात्पर्य, मनोमय प्राणमयके अंदर और प्राणमय भौतिकके अंदर अवतरित हो सकता है। इस तरह तीन नियतियां हैं जो परस्पर हस्तक्षेप करती हैं और ऐसी चीज उत्पन्न करती हैं जो एकदम भिन्न होती है।

जहां मन हस्तक्षेप करता है वहांकी नियति जहां वह हस्तक्षेप नहीं करता वहांकी नियतिसे निश्चित रूपमें पृथक् होगी। उच्चतर पशु-जीवनमें हस्तक्षेप करनेवाली मानसिक नियति अभी भी मौजूद है जो उद्‌भिज-स्तरपर काम करनेवाली नियतिसे एकदम भिन्न है। इन सब स्तरोंसे ऊपर उच्चतम स्तरतक कई अन्य स्तर हैं। उच्चतम क्षेत्र पूर्ण स्वतंत्रताका क्षेत्र है।

यदि अपनी चेतनामें तुम इन सब क्षेत्रोंको पार करनेमें समर्थ होओ, अर्थात् सीधी लाइनमें ऊपरकी ओर जा सको और सबसे ऊंचे स्तरपर पहुंच जाओ और फिर, इस संबंध-स्थापनके द्वारा, यदि तुम पूर्ण स्वतंत्रताकी इस नियतिको भौतिक नियतिके अंदर उतार लानेमें समर्थ होओ तो तुम प्रत्येक चीजको बदल दोगे और मध्यकी सभी नियतियोंमें भी परिवर्तन आ जायगा। इन परिवर्तनोंके कारण यह

सब पूर्ण स्वतंत्रताके जैसा दिखायी देगा। क्योंकि एक स्तरका दूसरे स्तरमें हस्तक्षेप करना या अवतरित होना निम्नतर स्तरके लिये अप्रत्याशित परिणाम उत्पन्न करेगा। उच्चतर लोक भले ही पहले जान जायं, पर निम्नतर लोक नहीं जान सकते। पहलेसे न ज्ञात होनेके कारण वस्तुएं और घटनाएं उस समय पूर्ण स्वतंत्र और एकदम अ-प्रत्याशित प्रतीत होती हैं।

यदि तुम सचेतन रूपसे और निरंतर उच्चतर स्तरपर, अर्थात्, परात्पर चेतनाके स्तरपर, निवास करो, केवल तभी तुम यह देखनेमें समर्थ होओगे कि प्रत्येक चीज पहलेसे ही पूर्णरूपेण निर्धारित है, परंतु, साथ ही इन नियतियोंके संमिश्रणकी जटिलताके कारण प्रत्येक वस्तु एकदम स्वतंत्र भी है। इस तथ्यको चाहे तुम जो भी नाम दो, पर यह एक साथ युक्त एक प्रकारकी पूर्ण नियति और पूर्ण स्वतंत्रता है। यह एक ऐसा स्तर है जहां कोई विरोध नहीं है, जहां सब चीजें विद्यमान हैं और एक-दूसरेका विरोध किये विना सामंजस्यके अंदर विद्यमान हैं।

(३)

सब कुछ संभव है। यह एक प्रकारका मानो साधारण तरीकेसे क्रमशः प्रकट होना है जो तुम्हारे लिये अज्ञात और अज्ञेय है। इस विश्वमें सब कुछ प्रकट होगा। पर किस क्रमसे और किस ढंगसे? यहां प्रत्येक चीज ही पूर्ण रूपसे, शाश्वत रूपसे पर निष्क्रिय रूपसे विद्यमान है। प्रत्येक चीज ही भौतिक जगत्में प्रकट होने जा रही है, स्वभावतः ही, कम या अधिक, एकके बाद एक प्रकट होने जा रही है। पर यह आत्मप्रकाश भला किस पथका अनुसरण करेगा?

सबसे ऊपर, पूर्ण स्वतंत्रताका क्षेत्र है। कौन कहता है कि पर्याप्त रूपसे सच्ची अभीप्सा, पर्याप्त रूपसे तीव्र प्रार्थना इस आत्म-प्राकट्यकी धाराको बदल नहीं सकती? इसका अर्थ है कि प्रत्येक

चीज संभव है। यही एक अद्भुत कृपाशक्ति है जो मानव-स्वभाव-को प्रदान की गयी है। महज हम यह नहीं जानते कि इसका उपयोग कैसे किया जाता है।

अतएव आड़ी रेखामें अत्यंत पूर्ण नियतिके होनेपर भी, यदि हम इसे पार कर सकें और चेतनाके उच्चतम शिखरपर पहुंच सकें तो जो कुछ पूर्ण रूपसे निर्धारित प्रतीत होता है उसे बदल सकते हैं।

सभी सिद्धांत महज सिद्धांत हैं, महज मानसिक कल्पनाएं हैं जो सद्वस्तुका केवल प्रतिरूप या प्रतिच्छाया हैं, वे स्वयं सद्वस्तु बिलकुल नहीं हैं। जब तुम "नियति" अथवा "स्वतंत्रता" शब्दका उच्चारण करते हो तब तुम केवल शब्दोंको ही दुहराते हो। वह सब यथार्थमें, तुम्हारे अंदर, तुम्हारे चारों ओर, सर्वत्र जो कुछ "है" उसका अत्यंत अपूर्ण, बहुत दुर्बल वर्णन है। और यदि तुम्हें यह समझना आरंभ भी करना हो कि विश्व कैसा है तो तुम्हें इन सब मानसिक सिद्धांतोंसे बाहर निकल आना चाहिये, अन्यथा तुम कभी समझ नहीं सकते।

निस्संदेह, यदि तुम ठीक एक मिनट भी इस पूर्ण सच्ची अभीप्सा, इस यथार्थतः तीव्र प्रार्थनाकी स्थितिमें निवास करो तो तुम घंटों ध्यान करनेकी अपेक्षा बहुत अधिक चीजोंको जान जाओगे।

ध्यान और जाग्रत् अवस्था

अच्छा ध्यान करनेके लिये या आंतरिक जगत्‌के साथ संपर्क प्राप्त करनेके लिये यदि तुम्हें समाधिमें जानेके लिये बाध्य होना पड़े तो तुम्हारी साधारण चेतना बिना बदले सर्वदा एक जैसी ही बनी रहेगी। दूसरे शब्दोंमें, जो लोग केवल गभीर ध्यानकी स्थितिमें ही उच्चतर चेतना प्राप्त करते हैं, वे एक बार जब उस समाधिसे बाहर निकल आते हैं तब उनका मूल्य जो कुछ वे पहले थे उससे अधिक नहीं होता। उनके सारे दोष वहां मौजूद रहते हैं और ज्योंही वे अपनी पहलेकी चेतना वापस पाते हैं त्योंही वे उन दोषोंको भी फिर पा लेते

हैं[१]। ऐसे लोग कभी प्रगति नहीं करते; क्योंकि वे कभी अपनी गभीरतर चेतना, अपनी सत्ताके सत्य तथा अपनी बाह्य सत्ताके बीच कोई संबंध नहीं स्थापित करते। वे अपनी बाहरी सत्ताको एक वस्त्रकी तरह उतार देते हैं और उसे अलग एक कोनेमें रखकर उससे कहते हैं, "चुप रहो, मेरे प्यारे मित्र, तुम मुझे परेशान मत करो"— और फिर वे मनकी एकाग्रता, ध्यान, अपनी गभीर अनुभूति या सिद्धिमें डूब जाते हैं; और जब वे वापस आते हैं तब वे अपना वस्त्र पुनः पहन लेते हैं जो इस बीच बदल नहीं गया है, बल्कि शायद पहलेसे भी अधिक गंदा हो गया है। अतएव वे जहां पहले होते हैं वहीं बने रहते हैं अथवा अपने ध्यानके बावजूद भी अपनी बाहरी प्रकृतिमें और भी बुरे बन जाते हैं। यदि तुम अपनी बाहरी सत्ताको बदलना चाहो तो तुम्हें उसके विषयमें सचेतन बने रहना चाहिये और सचेतन रहते हुए अन्य अनुभवोंको प्राप्त करना चाहिये; यदि तुम अपने अनुभवोंका पूरा लाभ उठाना चाहो तो तुम्हें अपनी बाहरी सत्ताके साथ कभी संस्पर्श नहीं खोना चाहिये।

ऐसे बहुतसे लोग होते हैं जो घंटों ध्यान किया करते हैं, कुछ तो प्रायः सब समय ही करते रहते हैं। परंतु संयोगवश यदि कोई मनुष्य उन्हें पुकारकर या शोरगुल मचाकर उनके ध्यानमें बाधा पहुंचाता है तब वे क्रोधसे आग-बबूला हो उठते हैं, चिल्लाते और सारे संसारके लिये ही गालियां निकालते हैं; ध्यानकी कोशिश किये बिना

---

[१]इस संबंधमें श्रीरामकृष्ण एक कहानी कहा करते थे। पवित्र-सलिला गंगा नदीके अपने अंदर स्नान करनेवालोंको पवित्र बनानेके गुणके विषयमें प्रश्न करनेपर वह उत्तर दिया करते कि ज्योंही तुम गंगाके जलमें प्रवेश करते हो त्योंही पाप तुम्हें छोड़ देते हैं; परंतु वे किनारेपर प्रतीक्षा करते रहते हैं, और जब तुम बाहर आते हो तब वे सीधे तुम्हारे ऊपर कूद पड़ते हैं और पहलेकी भांति ही प्रसन्नताके साथ तुम्हारे अंदर जमकर बैठ जाते हैं।

यदि वे साधारण मनुष्य बने रहते तो उस समय वे जो कुछ होते उससे कहीं अधिक गंदे वे बन जाते हैं। इसका कारण, जैसा कि मेरा कहना है, यह है कि वे अपनी गभीरतर चेतनाके साथ अपने बाह्य जीवनको जोड़नेकी परवा नहीं करते; वे अपने-आपको दो भागोंमें काट देते हैं, एक भाग तो भीतर होता है जो प्रगति करता रहता है और दूसरा भाग बाहर होता है जो और भी बुरा बनता जाता है, क्योंकि वह छोड़ दिया जाता है और उसकी एकदम कोई परवा नहीं की जाती।

अनुचित क्रियाके साथ व्यवहार

किसी चीजको उसे न चाहनेके कारण महज दूर ढकेल देना एक बात है और अपनी चेतनाकी स्थितिको ही इस प्रकार बदल देना कि जिस चीजको तुम नहीं चाहते वह चीज ही तुम्हारे स्वभावके लिये एकदम अपरिचित बन जाय दूसरी बात है। इन दोनोंमें महान् अंतर है। साधारणतया जब तुम्हारे अंदर कोई ऐसी क्रिया होती है जिसे तुम पसंद नहीं करते तब तुम उसे पीछे ढकेल देते और दबा देते हो, पर तुम यह पता लगानेका कष्ट नहीं उठाते कि तुम्हारे अंदर ऐसी कौनसी चीज है जिसने उस क्रियाको अवलंब दिया था और जो अब भी दे रही है, कौनसी वह विशिष्ट प्रवृत्ति है, चेतनाका कौनसा झुकाव है जो उस चीजके चेतनामें प्रवेश करनेके लिये दरवाजा खोल देता है। परंतु तुम यदि महज उसे अनुचित करार देने और दबा देनेका भाव ग्रहण करनेके बदले अपनी प्राणगत चेतनाकी गहराईमें पैठ जाओ और उस सहारा देनेवाली चीजको ढूंढ़ निकालो अर्थात् विशेष प्रकारके उस छोटेसे प्रकंपनको खोज निकालो जो दूर एक कोनेमें जमा बैठा है — प्रायः वह कोना इतना अंधकारपूर्ण होता है कि वह वहां है यह देखना भी कठिन होता है —, यदि, सारी कठि-नाईके होनेपर भी, तुम एकाग्र होओ और उस चीजतक, उस क्रियाके

मूल स्रोततक ले जानेवाले रास्तेका अनुसरण करो तो अंतमें तुम एक बहुत छोटीसी सांप-जैसी चीज ढूंढ़ निकालोगे जो वहां कुंडली मारकर बैठी होती है, अत्यंत छोटी होती है, एक मटरसे बड़ी नहीं, पर होती है बहुत काली और दृढ़तासे जड़ जमाये हुई। अब दो पद्धतियां हैं : या तो तुम उस बिंदुपर इतना तेज एक प्रकाश डालो, सत्य-चेतनाकी इतनी प्रबल ज्योति फेंको कि वह चीज गल जाय अथवा उस नन्हीं चीजको एक चिमटेसे पकड़कर खींच लो और उसे अपनी चेतनाके सामने रख दो। पहली पद्धति समूल नाशक है, परंतु सर्वदा तुम्हारे पास सत्यकी ज्योति नहीं होती और तुम जब चाहो तब उसका व्यवहार नहीं कर सकते। अतएव तुम्हें दूसरी पद्धति ही ग्रहण करनी होगी। तुम उसका अनुसरण कर सकते हो, पर वह तुम्हें कष्ट देगी, इतना बड़ा कष्ट देगी जितना कि दांत उखाड़नेके समय होता है। मुझे नहीं मालूम कि तुममेंसे किसीको यह अनुभव हुआ है या नहीं, पर होता है यह दुःखदायी। सामान्यतया कोई अवांछित क्रिया होनेपर तुम क्या करते हो ? तुम उसे — मैं समझती हूं, खूब धीरेसे — पोंछ देनेकी अथवा उसे ढक देनेकी चेष्टा करते हो; इस तरह ऐसी चीजें पहलेकी तरह ही बनी रहती हैं। तुममें साहस नहीं होता और इसलिये चीजें परिवर्तित नहीं होतीं। हां, उससे तुम्हें कष्ट होता है; कष्ट साधारण तौरपर यहां हृदयमें होता है। परंतु तुममें यदि साहस हो तो उससे समझौता करनेकी अपेक्षा उसे उखाड़ फेंकना कहीं अधिक अच्छा है; उसे उखाड़ लो और अपनी तीक्ष्ण दृष्टिके सामने उसे रख दो; वह विलीन हो जायगी। इससे उसका अंत हो जायगा और तुम स्वस्थ हो जाओगे। वह चीज फिर तुम्हें परेशान करनेके लिये तुम्हारे अंदर कभी नहीं आयेगी। परंतु यह चीर-फाड़ समूल नष्ट करनेवाला है और इसे चीर-फाड़के रूपमें ही करना होगा।

आरंभमें उस चीजको ढूंढ़ निकालनेके लिये एक महान् अध्यवसायकी जरूरत होती ह। क्योंकि साधारण तौरपर जब तुम ऐसी चीजोंकी खोज करते हो तब मन बीचमें आ जाता है और सैकड़ों

कारण दिखाता तथा अनुकूल व्याख्याएं देता है जिसमें कि तुम उस खोजको जारी न रखो। वह तुमसे कहता है : "नहीं, इसमें तनिक भी तुम्हारा दोष नहीं; परिस्थितियां ही ऐसी हैं, लोग ऐसे हैं, बाहर-से आनेवाली चीजें ऐसी हैं, यह बात है और वह बात है," सब प्रकारके सुन्दर-सुन्दर बहाने बनाता है, और यदि तुम अपने संकल्पपर दृढ़ नहीं रहते तो तुम सभी चीजोंको जारी रहने देते हो और पहले तुम जहां थे वहीं बने रहते हो; तुम्हारी कठिनाई फिरसे तुम्हें तंग करनेके लिये वापस आ जाती है और तुम्हें फिर नये सिरेसे काम आरंभ करना पड़ता है। परंतु तुम यदि चीर-फाड़ कर डालते तो सब कुछ वहीं समाप्त हो जाता। मन और उसकी व्याख्याओंपर विश्वास मत करो। वह तुम्हें यह कहनेकी प्रेरणा दे सकता है, "हां, हां, दूसरे अवसरोंपर बात ऐसी ही थी, मैं स्वीकार करता हूं, निस्संदेह मेरी ही भूल थी; परंतु इस बार, मुझे पूरा विश्वास है, इसमें मेरा कोई दोष नहीं है आदि-आदि।" अगर तुम अपने विरोधीका सामना दृढ़ताके साथ न करो तो वह सर्वदा ही वहां बना रहेगा, अवचेतनामें छिपा रहेगा, बड़े आरामसे वहां निवास करेगा और किसी दिन जब तुम असावधान होगे वह ऊपर आ जायगा। मैंने लोगोंको इस प्रकार ३५ वर्षोंसे भी अधिक समयतक बुराईका पोषण करते हुए देखा है। और यदि कोई ठीक रास्तेसे न चले तो कोई कारण नहीं कि चीजें जन्म-जन्मांतरतक न बनी रहें। अतएव एकमात्र निरापद उपाय है चीर-फाड़ करना, चाहे जितना भी मूल्य क्यों न चुकाना पड़े। क्योंकि इससे तुम सदाके लिये स्वस्थ हो जाते हो। निश्चय ही जब तुम उस स्थानपर केंद्रीभूत ज्योति डालते हो तब वहां जलता है, झुलस जाता है। परंतु तुम्हें उसे सहन करना ही चाहिये। तुममें ऐसी सच्चाई होनी चाहिये जो तुम्हें पीछे नहीं हटने देती, उस स्थानको ढकने नहीं देती और प्रयास छोड़ने नहीं देती। तुम्हें बल्कि उस स्थानको चौड़े खोल रखना चाहिये और सीधे अपने ऊपर प्रहार ग्रहण करना चाहिये।

मैंने तुम्हें उस स्थानको ढूंढ़ निकालनेके लिये कहा है जहां गुप्त चीज पड़ी रहती है। उस काली चीजके लिये बहुतसे सुखदायी कोने तुम्हारी सत्तामें हैं। कुछ लोगोंके मस्तकमें ऐसा कोना होता है, कुछ लोगोंके हृदयमें, दूसरोंके निम्न भागमें होता है; परंतु जहां भी वह चीज क्यों न हो, जब तुम उसे खोज निकालते हो तब वह एक ही जैसी दिखायी देती है,—गोलाकार सिमटा हुआ एक छोटासा काला प्राणी वह होता है, मटरसे बड़ा नहीं होता पर कड़ा और दृढ़तासे जड़ा हुआ होता है, मानो एक अणु-परिमाण सांप कुंडलित होकर बैठा हो। यदि वह मस्तककी कोई चीज हो तो उसे खोजना कुछ कठिन होता है। क्योंकि मस्तक भ्रांत भावनाओंसे भरा रहता है और यथार्थ पथका अनुसरण करनेके लिये उसे व्यवस्थित करना आसान नहीं होता। हृदयमें उस स्थानको खोज निकालना और उसे अच्छा करना अपेक्षाकृत अधिक आसान होता है, यद्यपि यहां उससे सबसे अधिक कष्ट होता है। परंतु यहां वह अधिक आसानी-से मिल जाता है और अत्यंत पूर्ण रूपमें नीरोग भी हो जाता है। नीचे प्राणमय भागमें चीजें बहुत अव्यवस्थित और अंधकारपूर्ण होती हैं। सभी चीजें सच्ची अस्तव्यस्तताकी अवस्थामें परस्पर मिली-जुली होती हैं। वहांकी क्रियाएं भी अधिक प्रचंड, अधिक अदम्य और अज्ञानपूर्ण होती हैं। यहींपर हैं काम, क्रोध, अहंकार और महत्त्वा-कांक्षा आदिकी सभी प्रकारकी क्रियाएं, सभी प्रकारकी आसक्तियां और भावुकताएं, वह भूख जिसे तुम प्रेम कहते हो। और वहीं हैं अन्य सैकड़ों चीजें। फिर उतने ही प्रकारकी चीजें मस्तकमें भी हैं। वहां विचारके विकृत रूप हैं, सब प्रकारकी विश्वासघातकताएं हैं, अपने ही अंतरात्माके प्रति विश्वासघातकताएं हैं। यह कल्पना करना भी मुश्किल है कि कोई किस तरह अपने ही अंतरात्माके साथ विश्वास-घात करता है, तुम्हारा मस्तिष्क तुम्हारे इस बोधके विरुद्ध कि तुमने कोई भूल की है, तुम्हारा समर्थन करनेके लिये कितने प्रकारोंसे, कितनी दृढ़ताके साथ अपने निर्णय, दृष्टिकोण और अनुकूल व्याख्याएं पेश

करता है। तुम्हें इन सब चीजोंको सुलझाना होगा, प्रत्येक चीजको उसके अपने स्थानमें रखना होगा और प्रत्येक चीजके ऊपर अपनी सच्ची चेतनाकी ज्योति फेंकनी होगी तथा उनका विचार करना होगा — उन्हें जलाना होगा, शुद्ध करना होगा या रूपांतरित करना होगा।

व्यक्तिगत प्रयास और आत्म-समर्पण

अंतमें इन दोनोंके बीच कोई अंतर नहीं रह जाता यदि लक्ष्य निर्व्यक्तिक भगवान्‌को प्राप्त करना हो, तात्पर्य, यदि तुम निर्व्यक्तिक भगवान्‌के साथ एकत्व और तादात्म्य प्राप्त करना, उनके अंदर निमज्जित हो जाना चाहो। परंतु तुम्हारी अभीप्सा यदि परेकी उस वस्तुतक पहुंचनेकी हो जिसे श्रीअरविन्द अतिमानसिक सत्य कहते हैं, तब उनके बीच एक अंतर आ जाता है, लक्ष्यमें भी और साथ ही पद्धतिमें भी एक फर्क पड़ जाता है। क्योंकि अतिमानसिक सिद्धिकी पद्धति मूलतः समर्पणकी पद्धति है। संभवतः यह मनोभावका एक प्रश्न है। और यदि किसीका मनोभाव ऐसा हो, उसकी प्रवृत्ति ऐसी हो तो आत्मसमर्पणका मार्ग उसके लिये अनंतगुना अधिक आसान है: तुम्हारे कष्टों और कठिनाइयोंका तीन-चौथाई भाग अपने-आप दूर हो जाता है। परंतु कुछ लोगोंके लिये यह कठिन साबित हो सकता है।

अब फलकी दृष्टिसे देखें तो एकके विषयमें मैं कह सकती हूं कि यह सीधी लाइनमें चलनेवाला है और मानो एक बिंदुपर जाकर समाप्त हो जाता है; दूसरेमें मार्ग वृत्ताकार है और उसका अंत एक सर्वांगीण परिपूर्णतामें होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने मूल और अपनी सत्ताकी चरमावस्थाको प्राप्त कर सकता है; मनुष्यकी सत्ताका मूल और चरमावस्था एक ही है जिसे सनातन, अनंत, परात्पर भगवान् कहते हैं। यदि तुम अपने मूलतक चले जाओ तो तुम परात्परतक पहुंच जाते हो, परंतु तुम एक ही सीधी रेखामें पहुंचते हो — रूपक-

को शब्दशः मत लो, यह तो विषयको समझनेमें आसान बनानेके लिये महज एक वर्णन है। अतएव, मेरे मतानुसार, यह सीधी रेखामें चलनेवाली सिद्धि है जो एक बिंदुपर जाकर समाप्त हो जाती है और वह बिंदु परात्परके साथ, तुम्हारी अधिकतम संभावनाके साथ एक होता है। दूसरे पथसे तुम उस सिद्धिपर पहुंचते हो जिसे मैं वृत्ताकार सिद्धि कहती हूं; क्योंकि वह एक ऐसी चीजका बोध प्रदान करती है जो सबको धारण करती है, वह एक बिंदु नहीं होती बल्कि एक सर्वांगपूर्ण सद्वस्तु होती है जिसके बाहर कुछ भी नहीं होता।

यहां पूर्ण और उसके अंशके संबंधकी बात लागू नहीं होती; क्योंकि अब यहां कोई विभेद ही नहीं होता। हम जिस पद्धतिसे अग्रसर होते हैं स्वयं उसका स्वरूप ही भिन्न होता है। क्या तुम कह सकते हो कि एक बूंद पानीके साथ पूर्ण तादात्म्य प्राप्त कर लेनेपर तुम्हें इस बातका ज्ञान हो जायगा कि समुद्र क्या है? और यहां तो जिस पूर्ण तादात्म्यकी चर्चा हो रही है वह केवल एक समुद्रके साथ नहीं बल्कि जितने समुद्र हो सकते हैं उन सबके साथ प्राप्त होनेवाला तादात्म्य है। और फिर भी एक बूंद पानीके साथ प्राप्त पूर्ण तादात्म्य तुम्हें सार-रूपमें समुद्रका ज्ञान देता ही है; परंतु दूसरे तरीकेसे तुम महज सार-रूपमें ही नहीं वरन् संपूर्ण रूपमें, सर्वशः, समुद्रको जान जाते हो। अवश्य ही इस सत्यके सत्स्वरूपको प्रकट करना बड़ा कठिन है। इसे यथासंभव स्पष्ट रूपमें बतलानेके लिये बस यही कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत प्रयासकी धारामें, जब कि मनुष्य एकमात्र अपने ही व्यक्तिगत बल-सामर्थ्यपर निर्भर करता है, जो कुछ व्यक्तिभावापन्न हो चुका होता है वह सब व्यक्तिस्वरूपताके गुणोंको बनाये रखता है और इसलिये, एक विशेष अर्थमें, इस व्यक्तिस्वरूपताके लिये आवश्यक सभी सीमाओंको भी बनाये रखता है। दूसरे क्षेत्रमें, जब तुम अपने व्यक्ति-स्वरूपको समर्पित कर देते हो तब तुम केवल व्यक्तिस्वरूपताके गुणोंका ही उपभोग नहीं करते बल्कि तुम उसकी सीमाओंकी अधीनतासे मुक्त भी हो जाते हो। मैं समझती

हूं कि यह बात प्रायः एक ऊंचे दर्शनका रूप ले लेती है और इसलिये स्पष्ट नहीं है। परंतु इससे अधिक मैं कुछ नहीं कह सकती।

एक आंतरिक योद्धाका समर्पण

इसका अर्थ है रूपांतरित प्राण-पुरुष। रूपांतरित प्राण ही भगवान्‌के लिये एक योद्धा-जैसा होता है। मनुष्यका प्राण-स्तर शक्तिका क्षेत्र है और यही प्राण-स्तर उसे युद्ध करनेके लिये, युद्ध करने और जीतनेके लिये प्रेरित करता है। इसी तत्त्वके साथ व्यवहार करना अत्यंत कठिन होता है; क्योंकि युद्ध करनेकी यह क्षमता ही प्राण-पुरुषमें विद्रोह और स्वतंत्रताकी भावना, अपने निजी संकल्पका अनुसरण करनेकी इच्छा उत्पन्न करती है। परंतु जब प्राण समझ जाता है और रूपांतरित हो जाता है, जब वह वास्तवमें भागवत संकल्पके प्रति आत्म-समर्पण कर देता है तब उसकी युद्ध करनेकी क्षमता रूपांतरमें बाधा डालनेवाली भगवद्विरोधी शक्तियों, अंधकारकी शक्तियोंके विरुद्ध लग जाती है; और प्राणकी शक्तियां शत्रुओंको जीतनेके लिये पर्याप्त प्रबल होती हैं। भगवद्विरोधी शक्तियां प्राणमय जगत्‌में रहती हैं: वहींसे वे भौतिक जगत्‌पर फैल जाती हैं। परंतु उनका अपना स्थान प्राणमय लोकमें होता है और परिवर्त्तित प्राण ही उनका सफलतापूर्वक सामना कर सकता है। परंतु यह रूपांतर बहुत कठिन है।

उच्चतर प्राण समर्पण करना बहुत कम कठिन अनुभव करता है, क्योंकि वह मनके और कभी-कभी चैत्य पुरुषके भी प्रभावके अधीन होता है; वह उन्हें अधिक आसानीसे समझ लेता है। उसका समर्पण निम्नतर प्राणके समर्पणकी अपेक्षा कम कठिन होता है, क्योंकि निम्नतर प्राण मूलतः कामनाओं तथा अंध प्रेरणाओंका गढ़ है। निम्नतर प्राण जब समर्पण करता है तो भी इसे जो कुछ करनेको कहा जाता है उसे करते समय वह पूर्ण प्रसन्न नहीं रहता, वह दुःख पाता है और विद्रोहकी प्रेरणाको दबाये रखता है, वह अनिच्छापूर्वक आज्ञा

मानता है और सहयोग नहीं देता। जबतक वह हर्ष और सच्चे प्रेमके साथ सहयोग नहीं देता तबतक कुछ भी नहीं किया जा सकता, तबतक रूपांतर नहीं हो सकता।

आत्मसमर्पण केवल तभी सुखद होता है जब वह सच्चा होता है। अथवा हम बातको थोड़ा घुमाकर कह सकते हैं कि यदि प्राण प्रसन्न न हो तो तुम्हें यह निश्चित रूपसे मान लेना चाहिये कि वह पूर्ण रूपसे सच्चा नहीं है। यदि वह प्रसन्न न हो तो इसका मतलब है कि वहां कोई चीज छिपी हुई है, कोई ऐसी चीज है जो बातका अन्य रूपमें होना पसंद करती है, ऐसी चीज है जिसकी अपनी कोई इच्छा है, अपनी निजी कामना है, अपना निजी उद्देश्य है और जो संतुष्ट नहीं है, संपूर्ण रूपसे समर्पित नहीं है, अपने समर्पणमें सच्ची नहीं है। परंतु कोई यदि अपने समर्पणमें सच्चा हो तो फिर वह अपने-आप पूर्ण रूपसे प्रसन्न भी होता है: वह एक अवर्णनीय आनंदका उपभोग करता है। अतएव यदि यह अवर्णनीय आनंद न हो तो यह इस बातका चिह्न है कि वहां कोई ऐसी चीज है जिसमें सच्चाई नहीं है।

अब, यदि तुम उस अंशको खोजना चाहो तो तुम्हें अभीप्सा करनी होगी, आग्रह करना होगा, प्रकाश फेंकना होगा — यदि आवश्यक हो तो प्रार्थना करनी होगी। इसके और भी बहुतेरे तरीके हैं। कभी-कभी तो अस्त्रोपचार भी आवश्यक होता है, लाल गर्म लोहा घावके अंदर घुसेड़ दो जिस तरह कि तुम मवादसे भरे ऐसे गंदे फोड़ेके हो जानेपर करते हो जो फटना नहीं चाहता।

भगवान्के प्रति उद्घाटन

तुम्हें भगवान्की ओर अपने-आपको खोलना चाहिये और उन्हें ग्रहण करना चाहिये। तुम साधारणतया अपने-आपको सभी दिशाओंमें संसारकी प्रत्येक चीज और प्रत्येक व्यक्तिकी ओर खोल रखते हो। तुम अपनी ऊपरी सत्ताको खोलते हो और सभी स्थानोंसे आने-

वाले सभी प्रभावोंको ग्रहण करते हो। इसलिये तुम्हारे अंदर एक ऐसी चीज उत्पन्न होती है जिसे हम सभी विपरीत तथा परस्पर-विरोधी क्रियाओंकी खिचड़ी कह सकते हैं; और वही असंख्य कठिनाइयोंकी सृष्टि करती है। अब उसके बदले, ऊपरी सतहसे, बाहरी भागसे दूर निवास करो और भगवान्‌की ओर उद्‌घाटित होओ तथा भागवत शक्तिके सिवा और किसी चीजको ग्रहण मत करो। अगर ऐसा कर सको तो सभी कठिनाइयां वास्तवमें विलीन हो जायंगी। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि इसमें थोड़ी कठिनाई भी है। जबतक मनुष्य रासायनिक दृष्टिसे किसी सुरक्षित अवस्थाको न प्राप्त हो जाय तबतक यह असंभव है कि वह लोगोंके साथ संबंध रखे, उनसे बातें करे, उनके साथ व्यवहार करे, उनके साथ आदान-प्रदान करे और फिर भी उनकी किसी चीजको ग्रहण न करे। अगर कोई अपनेको किसी ऐसे वातावरणसे घेर सके जो छन्नेके जैसा काम करता हो तो जो कुछ बाहरसे आयेगा वह सब उसके पास पहुंचने या उसे छूनेसे पहले ही रोक या छान लिया जायगा। पर इसके लिये अच्छे अभ्यास और विशाल अनुभवकी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि प्राचीन युगोंमें जिन लोगोंने अधिक आसान मार्ग लेना चाहा उन्होंने जंगलकी गहराईमें, पहाड़के शिखरपर या किसी गुफामें एकांतवास ग्रहण कर लिया, जिसमें कि उन्हें लोगोंके साथ संस्पर्श न रखना पड़े — क्योंकि उससे स्वभावतः ही अवांछनीय आदान-प्रदान कम हो जाता है। लेकिन साथ ही यह भी देखा गया है कि ऐसे लोग मनुष्योंके बदले पशुओं और पौधोंके जीवनमें अत्यधिक दिलचस्पी लेना आरंभ कर देते हैं; क्योंकि सच पूछा जाय तो किसी-न-किसी चीजके साथ आदान-प्रदान किये बिन काम चलाना कठिन है। अतएव सबसे उत्तम बात यह होगी कि इस समस्याका सामना सम्यक् रूपसे किया जाय, तुम अपने-आपको एक ऐसे वातावरणसे आच्छादित कर लो जो संपूर्ण रूपसे भगवान्‌पर केंद्रित हो जिसमें कि जो कुछ वहांसे होकर गुजरे वह रास्तेमें ही छन जाय। और इसके अलावा, भोजनका प्रश्न भी है। शरीर अपना

अस्तित्व बनाये रखनेके हेतु विजातीय पदार्थोंको ग्रहण करनेके लिये बाध्य है, इसलिये वह साथ-ही-साथ जड़ और अचेतन शक्तियोंकी, जो चेतना उतनी अधिक वांछनीय नहीं होती ऐसी किसी चेतनाकी शक्तियोंकी एक अच्छीसी मात्राको आत्मसात् कर लेता है। एक बार मैंने तुम लोगोंसे उस चेतनाकी बात कही थी जिसे मनुष्य भोजनके साथ आत्मसात् करता है; उसी तरह भोजनमें अचेतनता भी होती है जिसे मनुष्य ठीक उसी ढंगसे आत्मसात् करता है। यही कारण है कि बहुतसे योगमार्गोंमें तुम्हें अपने भोजनको पहले भगवान्‌को निवेदित करने और उसके बाद खानेकी सलाह दी जाती है : इसका अर्थ होता है भोजनको हजम करनेसे पहले उसके अंदर भगवान्‌का आवाहन करना। निवेदनका अर्थ है संपर्कमें रखना; भोजन भगवान्‌के संपर्कमें रखा जाता है अर्थात् उनके प्रभावके अधीन रखा जाता है। यह बड़ी ही अच्छी, बड़ी ही उपयोगी पद्धति है; यदि तुम्हें मालूम हो कि इसे कैसे किया जाता है तो आंतरिक रूपांतरके लिये जो परिश्रम मनुष्यको करना पड़ता है वह बहुत कुछ कम हो जायगा। क्योंकि संसारमें हम अन्य सब लोगोंके साथ एक होकर रहते हैं। तुम सब प्रकारकी क्रियाओं और सब प्रकारके मनुष्योंसे आनेवाले प्रकंपनों, असंख्य प्रकंपनोंको आत्मसात् किये बिना एक भी सांस नहीं ले सकते। अतएव, यदि तुम अपने-आपको अछूता रखना चाहो तो तुम्हें, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, अपने-आपको एक छन्नेकी स्थितिमें बनाये रखना चाहिये और किसी अवांछनीय वस्तुको प्रवेश नहीं करने देना चाहिये। अथवा मुंहपर एक आवरण डाल लो जैसे कि लोग छूतकी बीमारीवाले और विषाक्त वातावरणवाले स्थानको पार करते समय करते हैं अथवा उसी ढंगकी कोई चीज करो।

हमारे चारों ओर इतना घना, पूर्ण समर्पणकी भावनासे इतना घनीभूत वातावरण होना चाहिये कि कोई भी चीज अपने-आप छने बिना प्रवेश न कर सके। तुम्हारे चारों ओर बुरे विचार, अशुभ इच्छाएं होती हैं, बुरे लोगोंद्वारा भेजी हुई हानिकारक रचनाएं विद्य-

मान रहती हैं। हवा इन सव चीजोंसे, इन अंधकारपूर्ण हानिकारक बीजाणुओंसे भरी रहती है। सर्वदा सावधानीके साथ निगरानी रखना, पग-पगपर सतर्क बने रहना, संभलकर और चौकसी तथा बचावका ख्याल रखते हुए धीरे-धीरे चलना कितना कष्टकर है और फिर भी हम निश्चिंत नहीं हो सकते। परंतु तुम यदि अपनेको ज्योतिके, सहर्ष और सच्चे आत्मसमर्पण एवं अभीप्साकी ज्योतिके लबादेसे ढक दो जो कि एक अद्‌भुत छन्ना है, तो वह अपने-आप तुम्हें संरक्षण प्रदान करेगा। उस समय अवांछनीय शक्तियां न केवल प्रवेश ही नहीं कर पातीं वल्कि वे अपने स्रष्टाके ऊपर वापस फेंक दी जाती हैं, स्वयं आक्रामक ही अपने शिकार वन जाते हैं।

भगवान्‌के अंदर घुल जाना

हम किस तरह भगवान्‌के अंदर घुल सकते हैं? कहनेका तात्पर्य, भगवान्‌के अंदर कैसे विलीन हो सकते हैं, अपने अहंको कैसे खो सकते हैं?

सबसे पहले मनुष्यको इसकी इच्छा करनी चाहिये, इसके लिये संकल्प करना चाहिये, दृढ़ताके साथ इसके लिये अभीप्सा करनी चाहिये। जब-जब अहंकार सामने उठ खड़ा हो तब-तब तुम्हें उसकी नाकपर एक घूंसा जमाना चाहिये और तबतक जमाते रहना चाहिये जबतक कि वह इतना अधिक घूंसा न खा जाय कि वह थक जाय और छोड़ बैठे। परंतु साधारणतया मनुष्य घूंसा नहीं जमाता बल्कि उस दुष्ट-का पोषण करता है, उसकी उपस्थितिका समर्थन करता है। जब वह सामने उपस्थित होता है तब मनुष्य कहता है, "आखिरकार यह ठीक ही है"; यद्यपि अधिकांश प्रसंगोंपर मनुष्य यह जानता भी नहीं कि यह अहंकार है, वह इसे अपना स्वरूप ही समझता है। अतएव पहली शर्त्त है इस बातको आवश्यक समझना कि हमें अब अपने अहं-

कारको नहीं रखना है। तुम्हें यह समझना होगा कि जब तुम यह कहते हो कि तुम अब इसे नहीं चाहते तब इसका मतलब क्या है। यह इतना आसान नहीं है। क्योंकि जब तुम अपने मस्तिष्कमें इस भावनाको वार-वार दौड़ाते हो कि "मैं अहंकारको नहीं चाहता, मैं भगवान्से अलग होना नहीं चाहता", तो भी जीवनमें इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता; जब तुम यथार्थमें कोई स्वार्थपूर्ण या अहंकारपूर्ण कार्य करते हो तब तुम उसे विलकुल स्वाभाविक अनुभव करते हो; यह तुम्हें एक धक्कातक नहीं देता।

हमें आरंभमें यह समझना चाहिये कि यह चीज सचमुचमें क्या माने रखती है, इसमें वहुतसे स्तर या सोपान हैं। सवसे पहले, इन दो चीजोंका अंतर समझ लेना चाहिये — (१) स्वार्थपरता और (२) अहंकार। स्वार्थपरता एक मोटा रूप है और इससे, कम-से-कम इसके अधिकांश भागसे छुटकारा पाना वहुत कठिन नहीं होना चाहिये। तुम्हें यदि हास्यरसका बोध हो तो तुम इससे छुट्टी पा सकते हो। तुम यह नहीं देखते कि कितना मूर्ख एक स्वार्थपरायण मनुष्य होता है। वह वरावर ही अपने विषयमें सोचता रहता है, प्रत्येक चीजको वस अपने ही इर्दगिर्द लाता है, अपने ही तुच्छ व्यक्तित्वके विषयमें उठनेवाले विचारोंद्वारा शासित होता है, अपने-आपको ही विश्वके केंद्रमें रखकर भगवान्सहित समस्त विश्वको अपने ही चारों ओर व्यवस्थित करनेकी कोशिश करता है मानो वही विश्वकी सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु हो। अव, तुम यदि बाहरसे तटस्थ भावके साथ ठीक अपनी ओर देखनेकी कोशिश करो, आईनेमें देखनेकी तरह अपनेको देखो तो तुम तुरंत समझ जाओगे कि कितना हास्यास्पद तुम्हारा तुच्छ व्यक्तित्व है। मुझे याद है, कवि रवींद्रनाथकी एक पंक्ति, अवश्य ही अनुवादित, फ्रेंचमें पढ़ी थी जो मुझे बहुत मनोरंजक मालूम हुई। बात एक छोटेसे कुत्तेके विषयमें थी। कुत्ता अपनी मालिकिनकी गोदमें बैठा हुआ था और अपने-आपको विश्वका केंद्र समझता था। हां, वह चित्र मेरे मनमें बैठ गया। मैं सचमुचमें

एक नन्हेंसे कुत्तेको जानती थी जो ठीक वैसा ही था। उस तरहके बहुतसे कुत्ते होते हैं, शायद सभी कुत्ते वैसे ही होते हैं: वे चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिको उन्हींके विषयमें व्यस्त रहना चाहिये और ऐसा करनेमें वे सफल भी होते हैं।

तुम्हें अपने अहंको, अपनी सत्ताको भगवान्‌में डुवा देनेकी बात सोचनेसे पहले काफी दूरतक अग्रसर होना होगा। सबसे पहले, तुम अपने अहंको या अपनी सत्ताको तबतक नहीं डुवा सकते जबतक कि तुम पूर्णतः एक व्यक्तिभावापन्न सत्ता नहीं बन जाते। और, क्या तुम जानते हो कि इसका अर्थ क्या है—"पूर्णतः व्यक्तिभावापन्न होना" क्या चीज है? इसका अर्थ है एक ऐसी सत्ता बन जाना जो सभी बाहरी प्रभावोंका प्रतिरोध करनेमें समर्थ हो। उस दिन मुझे एक आदमीकी चिट्ठी मिली जिसका कहना है कि वह पुस्तकें पढ़नेसे हिचकता है; क्योंकि जो कुछ वह पढ़ता है उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेनेकी एक बहुत प्रबल प्रवृत्ति उसमें विद्यमान है; यदि वह कोई उपन्यास या नाटक पढ़े तो वह उसमें चित्रित पात्र ही बन जाता है और उस पात्रके अनुभवों, विचारों और क्रियाओंसे अभिभूत हो जाता है। इस तरहके बहुतसे लोग होते हैं। यदि वे कोई चीज पढ़ते हैं तो पढ़ते समय वे उन्हीं सब भावनाओं और प्रेरणाओंसे पूर्णतः चालित होते हैं जिन्हें वे पढ़ते हैं तथा उन्हींमें वे एकदम डूब जाते हैं, स्वयं वे भावनाएं और प्रेरणाएं ही बन जाते हैं और इस बातको वे उस समय जानते भी नहीं। इसका कारण यह है कि उनकी प्रकृतिका प्रायः ९९ प्रतिशत भाग मानो मक्खनका बना होता है: यदि तुम उसपर अपनी अंगुली दबाओ तो उसका दाग वहां पड़ जायगा। बस यही है साधारण मनुष्यका स्वभाव। मनुष्यके सामने ज्योंही कुछ आता है, चाहे वह दूसरेका अनुभूत कोई विचार हो, पुस्तकमें पढ़ा हुआ कोई वाक्यांश हो, देखी हुई कोई चीज हो या बस आंखोंके सामनेसे गुजरी हुई कोई घटना हो, किसी पड़ोसीकी कोई इच्छा या चाह हो, त्योंही वह सबका सब गड़बड़-सड़बड़, एक

साथ मिला-जुला घुस आता है — घुस आता है और निकल जाता है, फिर दूसरे उसके स्थानमें आ जाते हैं — ठीक विजलीके प्रवाहकी तरह। और कोई इसका ख्याल भी नहीं करता। फिर इन विभिन्न क्रियाओंके वीच संघर्ष, विरोध होता है, प्रत्येक ही प्रभुत्व पानेकी चेष्टा करती हैं। इस तरह मनुष्य समुद्रकी लहरोंपर धक्के खानेवाले लकड़ीके एक टुकड़ेकी तरह इधर-उधर झकोरे खाता है।

इस अगठित और अचेतन स्तूपके वदले हमें सचेतन, संवद्ध, व्यक्तिभावापन्न होना होगा, एक ऐसी सत्ता बनना होगा जो अपने इर्दगिर्दकी वस्तुसे स्वतंत्र, स्वयं अपने-आप और अपने-आपमें अस्तित्व रखती हो, जो कोई भी चीज सुन, पढ़ और देख सके और उसके कारण परिवर्तित न हो। वह वाहरसे केवल उसी चीजको ग्रहण करे जिसे वह ग्रहण करना चाहती हो। जो कुछ उसके उद्देश्यके साथ मेल न खाता हो उसे सहज भावसे त्याग दे: कोई चीज उसपर कोई छाप न छोड़ सके जवतक कि वह स्वयं उस छापको रखना न पसंद करे। वस इसी तरह मनुष्य व्यक्तिभावापन्न होना आरंभ करता है: और जव वह एक व्यक्ति वन जाता है केवल तभी वह अपने-आपको दान कर सकता है, क्योंकि जवतक तुम्हारे पास कोई चीज न हो तबतक तुम उसे नहीं दे सकते; जवतक तुम्हारे पास कुछ नहीं है या तुम कुछ नहीं हो तबतक तुम कुछ नहीं दे सकते। अतएव अपने पृथक् अहंको दूर करनेके लिये यह आवश्यक है कि हम अपने-आपको संपूर्णतः, विना हिचकिचाये सर्वांगीण रूपसे दे देनेमें समर्थ हों। और दे देनेमें समर्थ होनेके लिये हमारे अस्तित्वका होना आवश्यक है तथा अस्तित्व रखनेके लिये हमारा व्यक्ति बनना जरूरी है। यदि तुम्हारा शरीर कठोर न होता जैसा कि यह है — निस्संदेह शरीर भयानक रूपसे कठोर है — यदि यह विलकुल निश्चित कोई चीज न होता और यदि तुम्हारे अस्थि-पंजरके चारों ओर यह ठोस चमड़ा न होता, तुम अपने प्राण-रूपमें और मन-रूपमें जो कुछ हो ठीक उसीकी अभिव्यक्ति यदि तुम होते तो तुम्हारा रूप लसदार 'जेली' मछलीसे भी

अधिक बुरा होता। उस समय सब लोग एक-दूसरेमें घुस जाते और गल जाते, कैसी अस्तव्यस्तता और विशृंखलता होती यह ! यही कारण है कि आरंभमें ही एक कठोर आकार दे दिया गया है। और तुम शिकायत करते हो : शरीर इतना बड़ा है, इसमें नमनशीलता, कोमलताका अभाव है — इसमें तरलताका अभाव है जो भगवान्में गल जानेकी हमें क्षमता देती है ! परंतु इसकी आवश्यकता थी। क्योंकि तुम यदि अपने शरीरसे बाहर होते और शरीरके पीछेके क्षेत्रोंमें — प्राणमय लोकमें — प्रवेश करते तो तुम देखते कि वहां चीजें कैसी हैं : वहां चीजें आपसमें मिल जाती हैं, अलग हो जाती हैं, परस्पर लिपट जाती हैं, वहां सब प्रकारके प्रकंपन, धाराएं और शक्तियां होती हैं जो आती और जाती हैं, संघर्ष और संग्राम करती हैं, एक-दूसरेको पकड़ती हैं, एक-दूसरेको आत्मसात् करती हैं, एक-दूसरेको धकेल देती हैं ! इन सब अवस्थाओंके बीच किसी व्यक्तित्वको खोज निकालना बड़ा कठिन होता है। वहां बस होती हैं शक्तियां, क्रियाएं, प्रवृत्तियां, कामनाएं। यह बात नहीं कि वहां व्यक्तित्व और व्यक्ति हैं ही नहीं ! परंतु वे शक्तिशाली सत्ताएं हैं। ऐसे जगत्में जिन्होंने अपनेको व्यक्ति-रूप प्रदान किया है वे या तो वीर पुरुष हैं या दानव ?

और फिर मनमें, यदि तुम केवल स्थूल मनके विषयमें ही सचेतन होओ जो मस्तिष्कसे पृथक्, मस्तकसे स्वतंत्र है तो, तुम देखोगे कि वह वास्तवमें एक बाजार है, यही नाम उसे दिया गया है : प्रत्येक चीज उसमें प्रवेश करती है, सब प्रकारकी भावनाएं और धारणाएं वहांसे बार-बार गुजरती हैं और इधर-उधर घूमती हैं, एक-दूसरेको ढकेलती हैं, एक-दूसरेको धक्के देती हैं — कभी-कभी तो दुर्घटनाएं भी हो जाती हैं। वहां तुम खोज सकते हो कि तुम्हारा अपना मन कहां है पर तुम्हारा खोजना व्यर्थ ही होगा।

अपने-आपको महज गढ़नेमें मनुष्यको वर्षों परिश्रम करना पड़ता है — बहुत यत्नके सहित, खूब सावधानीके साथ, बहुत युक्तिपूर्वक, अत्यंत सुसंबद्ध रूपमें संगठन, चुनाव और निर्माण करना पड़ता है।

उदाहरणके लिये इस मामूली-सी बातको ही ले लो — अपने ढंगसे विचार करनेकी पद्धति, इसका निर्माण करनेमें भी दीर्घकाल लग जाता है। तुम समझते हो कि तुम अपने ढंगसे विचार करते हो, तुम नहीं जानते कि अपने विचारोंके लिये तुम कितना उन लोगोंपर निर्भर करते हो जिनसे बातचीत करते हो, उन पुस्तकोंपर निर्भर करते हो जिन्हें तुम पढ़ते हो, अपनी बदलती हुई मनोदशाओंपर निर्भर करते हो; हां, यह सब समय इस बातपर निर्भर नहीं करता कि तुम्हारा पाचन अच्छा है या बुरा, तुम एक कमरेमें बंद हो या खुली हवामें स्वतंत्र विचरण करते हो, क्या दृश्य तुम्हारे चारों ओर है, धूप हो रही है या वृष्टि। तुम्हें इस बातका ध्यान नहीं रहता पर तुम विभिन्न चीजोंके विषयमें विभिन्न रूपोंमें, स्वयं अपनेसे कोई भी संबंध न रखनेवाली अवस्थाओं या परिस्थितियोंके अनुसार विचार करते हो। इसीलिये मैं कहती हूं कि अपने विचारोंको सुव्यवस्थित, सुसंबद्ध, युक्तिसंगत बनानेके लिये तुम्हें सूक्ष्म ब्योरेके साथ दीर्घकालतक, बहुत दीर्घकालतक कार्य करनेकी आवश्यकता होगी। और फिर, वही इस बातका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है, जब तुम एक सुन्दर, सुगठित, खूब सुदृढ़, बहुत शक्तिशाली मानसिक रचनाका निर्माण कर लोगे तब सबसे पहले तुमसे यह कहा जायगा कि यदि तुम भगवान्‌के साथ युक्त होना चाहो तो तुम इसको भंग कर दो! और जबतक तुम पहले भागको नहीं कर लेते तबतक तुम दूसरे भागको भी नहीं कर सकते, यदि तुम अपने-आपको गठित नहीं करते तो तुम अपने-आपको दे भी नहीं सकते, भगवान्‌को देनेके लिये तुम्हारे पास कुछ होगा ही नहीं। सच पूछो तो तुम किन्हीं अविकसित वस्तुओंके एक ढेरके सिवा कुछ नहीं हो जो तुम्हारा अपना स्वरूप नहीं हैं। प्रथम तुम्हारा अस्तित्व होना चाहिये, तुम्हें कुछ बनना चाहिये और उसके बाद ही तुम अपनेको दे सकते हो।

वर्तमान समयमें, आजकी यथार्थ स्थितिमें, भगवान्‌को जो कुछ तुम दे सकते हो वह है तुम्हारा शरीर। परंतु ठीक यही वह चीज

है जिसे मनुष्य नहीं देता। हां, अपने कामके ऊपर, अपने शारीरिक श्रमके ऊपर एकाग्र होनेकी कोशिश करो; यहां भी ऐसी बहुतसी चीजें हैं जो सच्ची या सही नहीं हैं।

स्वभावतः ही तुम यहां पूछ सकते हो कि शरीरको भगवान्में कैसे गलाया जा सकता है। तुम कहते हो कि तुम भगवान्में मनको गलानेकी बात, प्राणको गलानेकी बात, विचारों और भावों, भावनाओं और अभीप्साओंको गलानेकी बात तो कुछ-कुछ समझते हो, पर शरीर? यह तो कड़ाहीमें कोई चीज गलानेकी तरह नहीं गलाया जा सकता। और फिर भी एकमात्र वही चीज ऐसी है जिसपर तुम अपना व्यक्तिगत नाम अंकित कर सकते हो — यद्यपि वह भी केवल एक रूढ़ि है — और कह सकते हो कि यह मैं हूं। अवश्य ही यदि तुम शीशेमें अपनेको देखो तो तुम स्पष्ट देखोगे कि तुम बीस वर्ष पहले जो कुछ थे वह अब नहीं हो, अब तुम एकदम दूसरे व्यक्ति हो जिसे बिलकुल ही पहचाना नहीं जा सकता। फिर भी तुम्हें यह बोध है कि यह वही व्यक्ति है, स्वयं तुम ही हो। तुम उसी चीजसे अपने-आपको देना आरंभ कर सकते हो जो अत्यंत अधिक गठित है, जिसे तुम अत्यंत अधिक अपना स्वरूप समझते हो।

मेरा मतलब अत्यंत जटिल क्रियाओंके सम्मुख तुम्हें ले जाना नहीं है। मेरा कहना बस यही है कि यदि तुम भगवान्में गल जानेकी, भगवान्के साथ एक हो जानेकी बात कहते हो तो तुम्हें सर्वप्रथम यह जानना चाहिये कि तुम क्या हो। तुम बाह्यतः अहंकार हो। यह वहां मौजूद है। अहंकारका कार्य है तुम्हें सचेतन बनाना, एक स्वतंत्र व्यक्तिभावापन्न सत्ता बनाना — कहनेका मतलब, तुम्हें एक ऐसा बाजार नहीं बने रहना चाहिये जहां सभी प्रकारकी क्रियाएं मिलती-जुलती और धक्केबाजी करती हैं; तुम्हें अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाये रखनेमें समर्थ होना चाहिये। अहंकार इसीके लिये है और यही कारण है कि तुम्हें एक चमड़ा दिया गया है, जिसमें कि तुम एक बंद वृत्त बना लो (निश्चय ही जो ऐसा हो कि अपने छिद्रोंमेंसे चीजोंको

छनकर आने तो दे पर आने दे तुम्हारी इच्छा और आज्ञासे ही)।

तुम्हें अपनी सत्ताका निर्माण करना होगा, अपने विषयमें सचेतन होना होगा — साधारण रूपमें ही नहीं वरन् प्रत्येक व्योरेके साथ। जिसे तुम 'हम' कहते हो उसकी प्रत्येक छोटी-मोटी चीज एक केंद्रके, तुम्हारे सच्चे स्वरूपके, तुम्हारे अंदर विद्यमान दिव्य सत्ताके चारों ओर व्यवस्थित होनी चाहिये, जिसमें कि समूची सत्ता सुसंवद्ध और सुगठित एक सत्ता वन जाय। जव दिव्य केंद्रके इर्दगिर्द इस तरह वह संपूर्ण सचेतन, सुसमंजस रूपमें सुसंगठित हो जायगी तब वह सर्वांगीण रूपमें भगवान्को निवेदित हो सकेगी, उनके साथ युक्त हो सकेगी; फिर उसके वाद वह समय आयगा जव कि भगवान् अपने साथ सच्चा एकत्व प्राप्त करनेकी अनुमति देते हैं। जव व्यक्तित्वका निर्माण-कार्य पूरा हो जाता है तभी वह तुम्हें अपना अहं अपने अंदर डुवाने देते हैं, और तुम एकमात्र भगवान्के लिये ही जीवन यापन करते और अस्तित्व रखते हो।

दिव्य प्रेम

"भागवत प्रेमकी तीव्रता सत्ताके किसी भागमें कोई हलचल नहीं पैदा करती" (योगके मौलिक तत्त्व)। क्यों पैदा करेगी ? यदि वहां कोई हलचल है तो यह अधिक संभव है कि वहां कोई दूसरे ही प्रकारका प्रेम होगा। अगर वहां भागवत प्रेम हो तो वहां कोई हलचल नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उसे अपनी क्षमताके अनुसार ग्रहण करता है।

भागवत प्रेम अपनी पूर्ण तीव्रताके साथ, एक महान् शक्तिके रूपमें विद्यमान है। परंतु अधिकांश लोग, सौमें निन्यानबे मनुष्य एकदम कुछ भी अनुभव नहीं करते। वे जो कुछ हैं, जो कुछ वे ग्रहण और धारण कर सकते हैं, ठीक उसीके अनुपातमें वे अनुभव करते हैं। सच पूछो तो तुम भागवत प्रेमसे स्पंदित एक वातावरणमें

सर्वदा डूबे रहते हो। कभी-कभी, विरले अवसरोंपर, शायद कुछ सेकंडोंके लिये तुम्हें सहसा किसी चीजका ठीक भान होता है और तुम कहते हो, "हां, भागवत प्रेम मेरे पास आया!" परंतु यह कहनेका एक तरीका है। सच्ची बात तो यह है कि किसी-न-किसी कारणसे तुम थोड़ा-सा खुल गये और तुम्हें उस चीजका बोध हो गया जो हमेशा ही तुम्हारे साथ रहती है। दिव्य प्रेम विद्यमान है और उसी तरह दिव्य चेतना भी विद्यमान है। आखिर वे दोनों एक ही चीज हैं। वे सब समय ही विद्यमान हैं, केवल तुम उन्हें अनुभव नहीं करते, या केवल आकस्मिक रूपमें करते हो। एक बार किसी तरह तुम अपने-आपको, मानो बिना किसी कारणके, उस सुखद स्थितिमें पाते हो और तुम घोषणा करते हो कि आखिरकार भागवत प्रेम मेरी ओर मुड़ा है! परंतु, जैसा कि मैं कहती हूं, बात उस तरहकी नहीं है। तुम्हारे अंदर कोई उद्घाटन हो गया, संभवतः सुईकी नोकसे अधिक नहीं, और वह उस चीजके भीतर घुस आनेके लिये काफी था; क्योंकि वातावरण उससे सराबोर है और जहां कहीं उसके ग्रहण किये जानेकी संभावना है वहीं वह ग्रहण की जाती है। यही बात सब दिव्य वस्तुओंपर लागू होती है। वे विद्यमान हैं; तुम उन्हें न तो ग्रहण करते हो न देखते हो, क्योंकि तुम घिरे हुए हो, बंद हो, रुंधे हुए हो। तुम अधिकांश समय अन्य चीजोंमें संलग्न रहते हो। तुम अपने-आपसे भरे रहते हो, उससे ठसाठस भरपूर रहते हो और वहां दूसरी किसी चीजके लिये कोई स्थान नहीं होता। तुम केवल निष्क्रिय रूपमें ही नहीं बल्कि सक्रिय रूपमें अपने-आपसे भरपूर रहते हो, तुम स्वयं अपने साथ प्रचंड रूपमें व्यस्त रहते हो। ऐसी अवस्थामें भला तुम अपने आस-पास, अपने चारों ओर विद्यमान अद्भत वस्तुओंको कैसे देख सकते हो? तुम अचानक एक झलक पाते हो, शायद उस समय जब कि तुम सोये होते हो; परंतु वह चीज शीघ्र ही विलीन हो जाती है। मनुष्यका अहंकार एक भयानक वस्तु है; समूचा विश्व उसके लिये महज उसके अहंकारका ही कार्य है। तुम केंद्र हो

और सारी सृष्टि तुम्हारे चारों ओर चक्कर काट रही है। विश्वके विषयमें तुम्हारी दृष्टि ऐसी ही है। यह जैसा है वैसा तुम इसे नहीं देखते; जब तुम इसकी ओर ताकते हो तब महज अपने-आपको ही देखते हो।

अतएव, आरंभमें तुम्हें अपने अहंसे बाहर निकल आनेमें समर्थ होना चाहिये। प्रथम पगके रूपमें तुम्हें एक ऐसी स्थितिमें प्रवेश करना होगा जहां तुम्हारा अस्तित्वतक न होगा। केवल वहींसे, अर्थात् एक ऊंचाईसे, तुम वस्तुओंको ठीक वैसी ही देखना आरंभ करोगे जैसी कि वे हैं। यदि तुम वस्तुओंको वैसी ही देखना चाहो जैसी कि वे वास्तवमें हैं तो तुम्हें पूर्ण रूपसे एक दर्पणकी तरह बन जाना होगा — निश्चल-नीरव, शांतिपूर्ण, अचल-अटल, तटस्थ, रुचि-अरुचिसे शून्य, पूर्ण ग्रहणशीलताकी अवस्थामें स्थित। तब तुम ऐसी बहुतेरी चीजें देखना आरंभ कर दोगे जो पहले वहां दिखायी नहीं देती थीं पर केवल अब सक्रिय होती हुई प्रतीत होती हैं। फिर इस अनंत विश्वके अंदर एक अत्यंत नन्हें-से बिंदुमें, जिसे तुम अपना स्वरूप कहते हो, बंद रहनेके बदले इन चीजोंमेंसे किसी एकके अंदर खूब अच्छी तरह घुस जाओगे। ऐसे कई तरीके हैं जिनसे तुम अपने 'अहं'से बाहर निकल सकते हो। पर जैसे भी हो, यदि तुम संसार-को जैसा कि वह है वैसा देखना चाहो, उस रूपमें न देखना चाहो जिसमें कि वह तुम्हारे ही 'अहं'का एक कार्य प्रतीत होता है, तो बस करने योग्य एकमात्र बात यही है।

अब, अहंकारसे बाहर निकलनेके लिये तुम्हें स्वभावतः ही सबसे पहले वैसा करनेकी इच्छा रखनी होगी। ऐसा करनेका सबसे अधिक पक्का रास्ता है अपने-आपको भगवान्के प्रति निवेदित कर देना, भग-वान्को अपनी ओर न खींचना बल्कि अपने-आपको उनके चरणोंमें न्योछावर कर देना। इसी तरह तुम अपने-आपको भूलना आरंभ करते हो। साधारणतया जब मनुष्य भगवान्की बात सोचते हैं तब उनमें जो तत्काल प्रवृत्ति उठती है वह भगवान्को (अथवा जिसे वे

उनका स्वरूप कहते हैं उसे) अपनी ओर या अपने अंदर खींचनेकी होती है। सामान्यतः इसका परिणाम यह होता है कि वे कुछ भी ग्रहण नहीं करते; और वे शिकायत करते हैं: "ओह! मैंने पुकारा और लगातार पुकारा, मैंने प्रार्थना की और निरंतर की, पर कोई उत्तर नहीं मिला, मुझे कुछ नहीं मिला, कुछ नहीं आया।" परंतु शिकायत करनेसे पहले अपने-आपसे पूछो कि क्या तुमने अपने-आपको अर्पित किया था। तुम देखोगे कि अपने-आपको अर्पित करनेके बदले तुमने खींचा था। उदार, मुक्त-हस्त, विशाल-हृदय होनेके बदले तुम एक कंजूस, भिखारी बन गये थे। जब तुम खींचते हो तब तुम संपूर्ण अपने ही अंदर बने रहते हो, अपने अहंके अंदर मोहर-बंद रहते हो। तुम अपने और उस चीजके बीच पार्थक्यकी एक दीवाल खड़ी कर देते हो जो तुम्हारे चारों ओर है और तुम्हारे अंदर आना चाहती है, जिसे इस तरह घुसने नहीं दिया जाता, प्रायः जान-बूझकर जिसे आने देना अस्वीकार कर दिया जाता है। तुम एक कैदखानेमें अपने-को बंद कर लेते हो और मनमें कुढ़ते हो कि तुम्हारे पास कुछ नहीं है, तुम कुछ भी अनुभव नहीं करते। कम-से-कम यदि एक भी जंगला तुमने खोला होता तो तुम्हारे चारों ओर थोड़ीसी रोशनी और हवा अवश्य आयी होती।
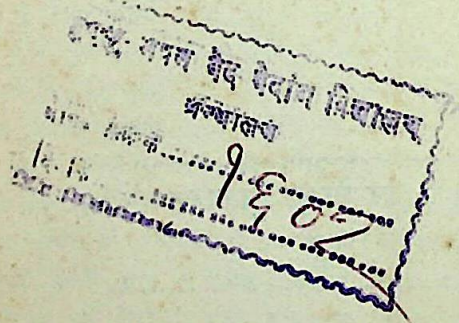
मैं समझती हूं कि मैं तुमसे कई बार कह चुकी हूं कि बहुतोंके जीवनमें एक क्षण ऐसा आता है जब कि अभी यह जीवन जैसा है, अभी मानव-चेतना जैसी है, वह इस रूपमें पूर्णतः असह्य हो जाती है, उससे केवल विरक्ति और घृणा ही उत्पन्न होती हैं; मनुष्य उसे अब अधिक बनाये रखना नहीं चाहता, वह अब अपना समस्त प्रयास, समस्त शक्ति, अपना समस्त जीवन और अंतरात्मा इसी संभावनाके लिये, आज अंतिम रूपमें दिये गये एकमात्र इसी सुअवसरके लिये झोंक सकता है जिसमें कि वह (जीवनसरिताके) उस पार चला जाय। कितनी शांति मिलती है उस पथपर अपने पैर रख देनेपर जो तुम्हें उस पार पहुंचा देता है!

—श्रीमाताजी

अदिति पुस्तक-माला — पुष्प ४

मूल्य रु. ३.५०